ईशावास्योपनिषद्

उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित -

शाङ्करीव्याख्यानामक - वीरशैवभाष्योपेता

अनुवादकः सम्पादकश्च

पं० श्रीजगन्नाथशास्त्रीतैलङ्गः



प्रकाशक :

शैवभारती - शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — ११

ईशावास्योपनिषद्

उमचिगिशङ्करशास्त्रिविरचित –

शाङ्करीव्याख्यानामक-वीरशैवभाष्योपेता

अनुवादकः सम्पादकश्च
पं० श्रीजगन्नाथशास्त्रीतैलङ्गः

प्रकाशकः
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी - २२१ ००१

प्रथमं संस्करणम् १९९६

मूल्यम् : सजिल्द १५०
अजिल्द १००

अक्षर संयोजन
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी

मुद्रक
जौहरी प्रिंटर्स
शिवाजी नगर, महमूरगंज, वाराणसी

Research Publications Series — 11

ĪŚĀVĀSYOPANIṢAD

Śānkarīvyākhyā-Vīraśaivabhāṣya

by

Umacigi Śankaraśāstri

Translated and Edited by

Pt. Jagannath Shastri Tailang

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

First published 1996

ISBN 81-86768-19-X (Hb)
ISBN 81-86768-20-3 (Pb)

Price : Rs. 150 (Hb) Rs. 100 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :
Jauhari Printers
Mahmoorganj, Varanasi - 221 010

समर्पण



शैवभारती शोधप्रतिष्ठान की स्थापना के प्रेरणास्रोत महान् विभूति
काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासन के ८५ वें पीठाधिपति
लिंगैक्य श्री १००८ जगद्गुरु विश्वेश्वरशिवाचार्य
महास्वामीजी को यह वाङ्मय-सुमन समर्पित



शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान-संस्थापकानां



श्रीकाशीविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाधीश्वराणां

श्री १००८ जगद्गुरु-डॉ० चन्द्रशेखरशिवाचार्यमहास्वामिनां

शुभाशीर्वचनम्

भगवान् शिव ने लोकोद्धार के लिये अपने सद्योजात मुख से ऋग्वेद का, वामदेव मुख से यजुर्वेद का, अघोर मुख से सामवेद का, तत्पुरुष मुख से अथर्ववेद का और ईशान मुख से अठाईस शैवागमों का आविर्भाव किया। कामिक से वातुल पर्यन्त इन शैवागमों की संख्या अठाईस है। प्रत्येक आगम ज्ञानपाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद नामक चार पादों से युक्त है। भारतीय सनातन धर्म-दर्शन के निगमागम ही मूल आधार हैं। सभी सनातन धर्मावलम्बी निगमागमोक्त धर्माचरण से ही परम पुरुषार्थ को पा रहे हैं।

निगम और आगम भगवान् शिव से ही प्रादुर्भूत हैं, अत एव परस्पर विरुद्धार्थक नहीं हैं। श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्यजी ने अपने क्रियासार ग्रन्थ के प्रथमोपदेश में इस विषय का इस प्रकार समर्थन किया है —

परस्पराविरुद्धार्थाः शिवोक्ता निगमागमाः ।
अल्पबुद्धिभिरन्योऽन्यं विरोधः परिकल्प्यते ।।

श्रीजगद्गुरु विश्वाराध्य जनकल्याण प्रतिष्ठान के अधीन कार्यरत शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा विगत दो वर्षों से श्री महाशिवरात्रि के पावन पर्व पर हिन्दीभाषा के अनुवाद के साथ आगम ग्रन्थों का प्रकाशन हो रहा है। उसी शृंखला में इस वर्ष निगम विभाग में समाविष्ट उपनिषदों में से कुछ प्रधान उपनिषदों का वीरशैव मत के प्रतिष्ठापक भाष्यों और भाषानुवादों के साथ प्रकाशित कराने का संकल्प लिया गया है। तदनुसार सर्वप्रथम यहाँ समस्त उपनिषत्संग्रहों में प्रथम स्थान प्राप्त ईशावास्योपनिषद् का वीरशैव मत के महान् आचार्य श्रीमान् उमचिगि-शंकरशास्त्री द्वारा रचित शांकरी व्याख्या और काशी के सुविख्यात विद्वत्कुल के भूषण श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलंग द्वारा निबद्ध भावार्थदीपिका नामक हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशन किया जा रहा है।

श्री तैलंग शास्त्री जी ने ग्रन्थ के भाषानुवाद के साथ भाष्य का भी परिष्कृत संस्करण तैयार किया है। अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में इन्होंने सभी आवश्यक विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। ये अन्य उपनिषदों का भी इसी पद्धति से परिष्कृत संस्करण तैयार कर रहे हैं। हम भगवान् विश्वेश्वर तथा श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य जी से यही प्रार्थना करते हैं कि आपकी आयुरारोग्य की वृद्धि हो तथा आपके द्वारा निरन्तर साहित्य-सेवा होती रहे। इन्हीं मंगल-कामनाओं के साथ हम अपना आशीर्वचन पूर्ण करते हैं।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

इति शिवं भूयात्।

पूर्वसंस्करणस्य प्रस्तावना

विदितचरमेवैतत् सर्वेषां यदस्यां भारतावनौ प्रख्यातेषु मतप्रभेदेषु वैदिकं तान्त्रिकं तान्त्रिकवैदिकं वैदिकतान्त्रिकं चेति भेदचतुष्टयम्। तत्र वेदोक्तकर्मानुष्ठानं यत् तद् वैदिकम्। केवलागमोक्तकर्मानुष्ठानघटितत्वं यत् तत् तान्त्रिकम्। यत्र वेदोक्तानां कर्मणां प्राधान्यमागमोक्तानामप्राधान्यं तद् वैदिकतान्त्रिकम्। यत्र तु कामिकादिवातुलान्ताष्टाविंशतिशैवागमोक्तकर्माण्यनुष्ठाय तदविरुद्धानां वैदिककर्मणामनुष्ठानं तत् तान्त्रिकवैदिकं चेति। अत्र द्वैताऽद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शक्तिविशिष्टाद्वैतानि यथाक्रममेतेष्वन्तर्भवन्तीति विद्वद्भिराकल्यते।

सम्प्रति सुस्पष्टमेवैतद् यन्निर्दिष्टेष्वेतेष्वन्तिमं शक्तिविशिष्टाद्वैतं तान्त्रिकवैदिकमिति कथ्यते। इदं च शक्तिविशिष्टाद्वैतं लिङ्ग्यलिङ्गिभेदेन पुनर्द्विविधम्। तत्र अलिङ्गिशक्तिविशिष्टाद्वैतं पाशुपतिमिति कथ्यते। तन्मतप्रवर्तकास्तु श्रीकण्ठशिवाचार्याः। तद्रचितब्रह्ममीमांसाख्यसूत्रभाष्यादिप्रस्थानत्रये प्रतिपादितोऽयं सिद्धान्तः। अन्यच्च लिङ्गिशक्तिविशिष्टाद्वैतमेव वीरशैवम्। मतस्याऽस्य प्रतिष्ठापका रेणुकादिपञ्चाचार्याः। तदन्वयानुयायिभिराद्यनीलकण्ठशिवाचार्यैः क्रि. श. ८०० विरचिते ब्रह्मसूत्रभाष्यादिप्रस्थाने जगद्गुरुरेणुकाचार्यप्रोक्तसिद्धान्तशिखामणौ च प्रतिपादितोऽयं सिद्धान्तः। तदनन्तरकालीनैः श्रीपतिपण्डिताराध्यशिवाचार्य (क्रि. श. १०६०)-स्वप्रभानन्द (१२००)–द्वितीयनीलकण्ठशिवाचार्य (१४००)–मायिदेव (१४००)– मरितोण्टदार्य (१७००)प्रभृतिभिराचार्यैर्यथाक्रमं श्रीकरभाष्य-शिवाद्वैतमञ्जरी-क्रियासार-वीरशैवानन्दचन्द्रिकाप्रभृतिषु सूत्रभाष्यादिग्रन्थेषु सम्यक् समर्थितोऽयं सिद्धान्तः।

यद्यपि लिङ्ग्यलिङ्गिरूपशक्तिविशिष्टाद्वैतद्वयमपि षट्त्रिंशत्तत्त्वान्युररीकरोति, तथाप्यनयोर्मोक्षस्वरूपनिरूपणे महत् तारतम्यमाकलितम्। यतोऽलिङ्गिशक्तिविशिष्टाद्वैते श्रीकण्ठनये भेदरूपं सारूप्यात्मकं मोक्षस्वरूपं निरूपितम्। अत्र तु वीरशैवे शिखिकर्पूरन्यायेन नदीसमुद्रन्यायेन वाऽभेदात्मकं सामरस्यरूपं मोक्षस्वरूपं प्रतिपादितम्।

किञ्च, लिङ्गाङ्गिनां वीरशैवानां गुरु-लिङ्ग-जङ्गम-पादोदक-प्रसाद-भस्म-रुद्राक्ष-मन्त्रात्मकाऽष्टावरण-पञ्चाचाररूपपतिकर्माण्यनुष्ठेयानि, न तु स्वर्गस्वाराज्यादि-फलकानि ज्योतिष्टोम-सन्ध्यावन्दन-वैश्वदेवादीनि पशुकर्माणि। अलिङ्गिपाशुपतं तु पूर्वकाण्डोक्तं वीरशैवविरुद्धम् अग्निहोत्र-श्राद्धादिकं मनुते। शैवागमास्त्वग्निहोत्रादिकं पशुकर्मेत्युद्घोषयन्ति।

अन्यच्चाऽत्र वीरशैवे ज्ञानकर्मणोः समसमुच्चयत्वमङ्गीक्रियते। अष्टावरणरूप-पतिकर्मभिः साकं घटते ज्ञानस्य समसमुच्चयः, न तु पशुकर्मभिः सह। वीरशैवस्तु शिवपूजादिरूपान् पञ्चयज्ञाननुतिष्ठन् प्राकृततन्तुमययज्ञोपवीतसाधनभूतोपनयनादिकं परित्यज्य शक्तिपातमहिम्ना श्रीगुरुकारुण्येन चाप्राकृतेष्टलिङ्गधारणात्मकशिवदीक्षा-मुपलभ्य षट्स्थलमार्गेण लिङ्गाङ्गसामरस्यात्मकं नित्यानन्दरूपमोक्षसुखमनुभवतीति वीरशैवसिद्धान्तहृदयम्।

श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनमहासंस्थानास्थानविदुषा लि. उमचिगिशङ्करशास्त्रि-महोदयेन पूर्वोक्तसिद्धान्तानुरोधेनैव विरचितेष्वीशाद्युपनिद्भाष्येषु ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तौ च वीरशैवस्वरूपं सप्रमाणं प्रतिपादितम्। ग्रन्थानामेषामवलोकनेनास्य ग्रन्थकर्तुः सर्वतोमुखं पाण्डित्यं दार्शनिकीं प्रत्युत्पन्नमतिं विपश्चिदपश्चिमां सहृदयैर्दार्शनिके वर्त्मन्येषां ग्रन्थानां स्थानं च निर्णेतुं शक्येत।

उज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनज्ञानगुरुर्विद्यापीठाश्रये पूर्वं कर्णाटकलिप्यां मुद्रिता-नामिदानीं देवनागरीलिप्यां पुनर्मुद्रणप्रयत्नोऽभिनन्द्यः, येन वीरशैवसिद्धान्तरहस्यं सर्वैरध्येतुं शक्येत। एतद्ग्रन्थार्थबुभुत्सवो वीरशैवाः कर्णाटके एवाऽधिकसङ्ख्यया विद्यन्ते। अतस्तेषामुपयोगार्थं व्याख्याया अस्या अपि तात्पर्यं कर्णाटकभाषायां यथामति संगृह्य संयोजितमत्र। एवं केनसिद्धान्तशिखोपनिषदावपि पुनर्गैर्वाण्यां लिप्यां प्रकटयेयुरित्याशासे।

नल सं. चैत्रशुद्धप्रतिपत् — सुजनविधेयः

२१-३-१९७६ — एम्. जी. नञ्जुण्डाराध्यः

सौम्यवासरः — सम्पादकः



भूमिका

ईशावास्यमिदं सर्वम्

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय सनातनधर्म का आधार है। 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' संहिता, मंत्र और ब्राह्मण-साहित्य का वेद नाम है। ब्राह्मण-साहित्य भी दो भागों में विभक्त है — आरण्यक और उपनिषद्। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य तीन भागों में विभक्त है — संहिता का मंत्रभाग, आरण्यक-ग्रन्थ और उपनिषद्-वाङ्मय। उपनिषद् वैदिक वाङ्मय का अंतिम भाग है।

मंत्रद्रष्टा ऋषि उपनिषदों के प्रारम्भ और अन्त में शान्तिमंत्र का पाठ करते थे, जिससे हमारे संकल्पित और प्रारब्ध कार्य निर्विघ्न और शान्तिपूर्वक सम्पन्न हों। 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार ऋग्वेद के उपनिषदों की संख्या १०, शुक्लयजुर्वेद के उपनिषदों की संख्या १९, कृष्णयजुर्वेद के उपनिषदों की संख्या ३२, सामवेद के उपनिषदों की संख्या १६ और अथर्ववेद के उपनिषदों की संख्या ३१ है। इस प्रकार १०८ उपनिषदों की गणना की गयी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने 'मुक्तिकोपनिषद्' में यह बतलाया है कि किस वेद में कितनी उपनिषदें हैं और उनके शांतिपाठ का कौन मंत्र है? यह विवरण इस प्रकार है —

(१) "ऋग्वेदगतानां दशसंख्यकानाम् उपनिषदां 'वाङ् मे मनःस्वि'ति शान्तिः।

(२) शुक्लयजुर्वेदगतानां एकोनविंशतिसंख्यकानाम् उपनिषदां 'पूर्णमद' इति शान्तिः।

(३) कृष्णयजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्यकानाम् उपनिषदां 'सह नाववत्वि'ति शान्तिः।

(४) सामवेदगतानां षोडशसंख्यकानाम् उपनिषदां 'आप्यायस्व'इति शान्तिः।

(५) अथर्ववेदगतानां एकत्रिंशत्संख्यकानाम् उपनिषदां 'भद्रं कर्णेभिः' इति शान्तिः।"

इन १०८ उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् — ये १० उपनिषद् प्रधान हैं।

नाम-निर्वचन

'शुक्लयजुर्वेद' की मंत्रसंहिता का चालीसवाँ अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' है, जिसका आरम्भ 'ईशावास्यम्' इस पद से होता है। अतः इसका नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। प्रथम इसके नाम पर विचार करना आवश्यक है। 'केनोपनिषद्' में 'उपनिषद्' शब्द का इस प्रकार उल्लेख है —

'उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्
ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमे'ति ।

(के० उ० ४.७)

इस उपनिषद् के 'वीरशैवभाष्य'कार ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री 'ब्राह्मीम् उपनिषदम्' इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं — 'ब्रह्मणः परशिवस्य इयं चिच्छक्तिरूपा, तां वीर्यरूपाम् (ब्राह्मीम्) उपनिषदं विद्याम्। मया (गुरुणा) (उप) सामीप्येन सामरस्यलक्षणेन (नि) नितरां परशिवब्रह्म प्राप्य कृत्रिमाहङ्कारादीन् शिथिलीकृत्य स्वशक्तिसङ्कोचाख्यातिं सादयति अपसारयति शैव इत्युपनिषद्' अर्थात् 'ब्राह्मी उपनिषद्' ब्रह्मविद्या है, वही ब्रह्मस्वरूपा परशिव की वीर्यरूपा चिच्छक्ति है। जब गुरु के द्वारा दीक्षित शिष्य 'सामरस्य'स्वरूप शिवयोग के द्वारा परशिवस्वरूप ब्रह्म के अत्यंत निकट पहुँचता है, तब वह वीरशैव कृत्रिम अहंकार आदि को शिथिल कर स्वशक्ति के संकोच को दूर करता है, इसलिए 'उपनिषद्' यह ब्रह्मविद्या का नाम सार्थक है।

ब्रह्मश्रीशङ्करशास्त्री 'ईशावास्योपनिषद्' के प्रथम मन्त्र के 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं — 'ईश् ऐश्वर्ये' क्विपि तृतीयान्तस्यैतद्रूपम्। यद् येन ईशा भावेष्टप्राणलिङ्गरूपगुरुलिङ्गजङ्गमात्मकेन ईशस्य त्रिविधात्मकत्वं तु —

लिङ्गं स्यादिष्टरूपं तु जङ्गमं प्राणलिङ्गकम् ।
भावलिङ्गं गुरुप्रोक्तं त्रिविधं त्वेकमुच्यते ।।

इति शिवरहस्यादवगम्यते। इदं घटाद्युपलक्षितं सर्वं स्थावरात्मकं जगत्यां यत्किञ्च जङ्गमात्मकं प्राणिजातं च यद्वर्तते तत्सर्वं वास्यं निवासयोग्यं शिवाऽविनाभावेन सम्बद्धम्।'' 'ईष्टे इति ईट् (ईशः), तेन ईशा, ईशा वास्यम् इति ईशावास्यम्।' 'ईशावास्यम्' का अर्थ है — 'ईश (परमेश्वर शिव) के द्वारा निवासयोग्य' 'ईशा' यह ऐश्वर्यार्थक 'ईश्' धातु का 'क्विप्' प्रत्यय करने पर तृतीयान्त रूप है, जिसका अर्थ है ऐश्वर्यसम्पन्न परमशिव। 'शिवरहस्य' के अनुसार उसके तीन रूप हैं — (१) इष्टरूप लिङ्ग, (२) जङ्गम प्राणलिङ्ग और (३) गुरु भावलिङ्ग। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार उसका त्रिविध रूप इस प्रकार है —

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याच्चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ॥

वस्तुतः वीरशैव-दर्शन का रहस्य यह है कि ॐकारवाच्य निष्कल घनलिङ्ग स्वकीय चिच्छक्ति के क्षोभमात्र से लिङ्गस्थल और अङ्गस्थल दो प्रकारों में विभक्त होता है। उसमें लिङ्गस्थल के तीन रूप हैं — सत्ताकलाविशिष्ट भावलिङ्ग, जिसे 'शिवरहस्य' में 'गुरु' कहा है, चित्कलाविशिष्ट प्राणलिङ्ग, जिसे 'शिवरहस्य' में जङ्गमलिङ्ग कहा है और आनन्दकलाविशिष्ट इष्टलिङ्ग, जिसे 'शिवरहस्य' ने 'इष्टरूप' माना है। वस्तुतः वह परमशिव लिङ्गस्वरूप ईश एक ही है, जिसके द्वारा समस्त चराचर विश्व व्याप्त है। अर्थात् शिव के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध है। अतः इस उपनिषद् का 'ईशावास्य' यह नाम सार्थक है। साथ ही इसका 'उपनिषद्' यह नाम इसलिए भी सार्थक है कि यह वही 'ब्राह्मी उपनिषद्' अर्थात् परब्रह्मस्वरूप परमशिव का साक्षात्कार करानेवाली वीर्यस्वरूपा विद्या उसकी अपनी चिच्छक्ति है, जो जीव को सामरस्यात्मक शिवयोग के द्वारा परब्रह्म परमशिव के समीप पहुँचाकर उसमें अवस्थित कृत्रिम अहंकार आदि को शिथिल करते हुए उसके चित्तशक्ति के संकोच को दूर करती है और उसका विकास करती है, जिससे जीव 'अमृत'पद प्राप्त करता है, 'समना'पर्यन्त के पाशजाल से मुक्त होकर 'उन्मनी' अवस्था में पहुँचता है और 'कीटभ्रमरन्याय' से 'परमशिव'स्वरूप बन जाता है। जन्म-मरण-जरा-व्याधि इनसे परा स्थिति को प्राप्त करना ही 'मुक्ति'पद, 'ध्रुव'पद है, जिसे 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' में मग्न जीव निश्चित रूप से प्राप्त करता है। 'ईशावास्योपनिषद्' में इसीका विवेचन है।

ब्रह्म की पूर्णता

शुक्लयजुर्वेदीय 'ईशावास्योपनिषद्' का शुभारम्भ 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इस शान्तिमन्त्र के पाठ से होता है। इस मन्त्र में किसी भी अवस्था में परब्रह्म की पूर्णता प्रतिपादित की गयी है। उसकी दो स्थितियाँ हैं — सृष्टि के पूर्व और उसके अनंतर। ॐकारशब्दवाच्य ब्रह्म परमशिव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सृष्टि के पूर्व वह अपनी चिच्छक्ति की विकासावस्था में पञ्चकृत्ययुक्त निष्कल घनलिङ्गस्वरूप रहता है। यही उसकी पूर्णता है और जगत् की कारणरूपता है। चिच्छक्ति के विक्षोभ से चैतन्यमय पूर्ण अङ्गस्थल का उद्रेक होता है। वह अङ्गस्थल सुख-दुःख का जनक है। जब वह अपनी अपूर्णता का अनुभव करता है, तब कारणस्वरूप परमशिव पूर्णस्वरूप को ग्रहण करते हुए दीक्षागुरु से दीक्षित होकर अपने आणव, कार्म एवं मायीय मल का निरसन करता है, जिससे उसका चित्त चिच्छक्ति के विकास से सम्पन्न होकर पूर्ण ब्रह्म में विलय प्राप्त करता है और पूर्ण ब्रह्म के रूप में ही अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति एवं संहार किसी भी स्थिति में परब्रह्मस्वरूप परमशिव की पूर्णता वर्णित है।

शान्तिपाठ के अन्त में तीन बार प्रणवपूर्वक शान्ति का उद्घोष आणव, कार्मिक और मायीय मल को दूर करने के लिए अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुःखों का प्रशमन करने के लिए किया जाता है, यही शान्तिमंत्र पाठ का विधान है। इस उपनिषद् में इस मंत्र के अतिरिक्त अठारह मंत्र हैं।

वैदिक वाङ्मय में मंत्र, ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थ कर्मकाण्ड का विधान करते हैं, जब कि उपनिषद् केवल ज्ञानात्मक उपदेश प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री 'ईशावास्योपनिषद्' की कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों की समन्वित दृष्टि से व्याख्या करते हैं। वे मानते हैं कि अंधा अथवा लँगड़ा अलग-अलग रहकर अकेले अपने गंतव्य स्थल नहीं पहुँच सकता। अंधा केवल कर्म कर सकता है, चल सकता है, लँगड़ा केवल चाक्षुष ज्ञान कर सकता है, देख सकता है। दोनों का समन्वय गंतव्य स्थल पहुँचने के लिए अत्यंत आवश्यक है। विशेष विवरण के लिए 'शाङ्करी व्याख्या' का उपक्रम द्रष्टव्य है।

'ईशावास्योपनिषद्' का प्रथम मंत्र यह प्रतिपादित करता है कि संपूर्ण चराचर विश्व ईश (परमशिव) से व्याप्त है। जीव उससे अभिन्न नहीं है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और परिणाम ये छः सार्वकालिक पदार्थ हैं। जीव को चाहिए कि वह

ये छः पदार्थ सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमशिव को समर्पित करे और उससे विसृष्ट शुद्ध, सिद्ध और प्रसिद्धरूप त्रिविध प्रसाद को ग्रहण करे। परमशिव के अतिरिक्त अन्य किसीके प्रसाद को न ग्रहण करे।

वीरशैवों के लिए वेद तथा आगमों में प्रसाद-ग्रहण के अतिरिक्त लिङ्गधारण, लिङ्गपूजन, पदार्थसमर्पण, समर्पित पदार्थ का प्रसाद के रूप में ग्रहण, मंत्रजप आदि 'अत्याश्रम' कर्म, अर्थात् गृहस्थाश्रम से भी ऊपर के कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। 'शतायुर्वै पुरुषः' इस सूक्ति के अनुसार उक्त कर्मों को सविधि करते हुए जीव को आजीवन आयुष्य के यापन का आदेश दिया गया है। परमशिव को समर्पणबुद्धि से कर्म करनेवाला जीव कर्मफलों से संपृक्त नहीं होता, अपितु मोक्ष प्राप्त करता है।

वीरशैवों के लिए उपासना की प्रधानता है, जिसका अर्थ है 'लिङ्गाङ्गसंयोग' का ज्ञान अथवा अद्वैतभक्ति। अतएव इस उपनिषद् के चतुर्थ-पंचम मंत्रों में ध्येय महालिङ्ग का स्वरूप वर्णित है। जीव शिक्षागुरु से प्राप्त उपदेश के पश्चात् शिव से लेकर भूमिपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में परमशिव का ही साक्षात्कार करता है। साथ ही स्वयं में छत्तीस तत्त्वों को देखता है। इस अभेदोपासना से जीव शोक-मोहादि भावों से मुक्त होता है और जीवन्मुक्त स्थिति में पहुँचकर परशिव महालिङ्ग के साथ समरसता प्राप्त कर 'अमृत'पद पाता है। जो जीव स्वस्वरूप ज्ञान से भिन्न अविद्या (कर्मकाण्ड) मात्र की उपासना करते हैं, अथवा जो केवल कर्मकाण्डरहित होकर आत्मज्ञान के पीछे पड़ते हैं, वे दोनों ही गाढ अज्ञानान्धकार में रहते हैं। केवल ज्ञानोपासना से मोक्ष से भिन्न देवलोकादि फल की प्राप्ति होती है, अथवा केवल कर्मोपासना से पितृलोक की प्राप्ति होती है। जो विद्या (ज्ञानकाण्ड) और अविद्या (कर्मकाण्ड) दोनों को जानता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है। केवल शिव की अथवा केवल शक्ति की उपासना से मुक्ति नहीं मिलती। दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं। शक्तिविशिष्ट शिवोपासना से ही मोक्ष मिलता है।

परमशिव की चिच्छक्ति प्रकाशमयी है। आणव, कार्म और मायीय मल का आवरण रहने के कारण गहन अज्ञानान्धकार उस पर छाया रहता है। वह अज्ञानशक्ति अख्यातिस्वरूपा है, जिससे पश्चिमचक्र संयुक्त होता है। उसी पश्चिमचक्र से परमशिव का शरीर ढँका रहता है। पन्द्रहवें मंत्र में जीव शिव से प्रार्थना करता है कि 'यतः इष्टरूप शिवलिङ्ग को मैंने धारण किया है, अतः सर्वज्ञता

आदि छः माहेश्वर धर्मों से सम्पन्न होने के लिए मेरे में रहनेवाले किञ्चिज्ज्ञत्व आदि संकोच का निरसन करो।' जीव अपने हृदयकमल में अवस्थित प्राणलिङ्ग का साक्षात्कार करना चाहता है। उसकी चित्तरश्मियाँ इन्द्रियाभिमुख और विषयासक्त हैं। अतः उनको हटाने के लिए जीव परमशिव से प्रार्थना करता है। शक्तिसूत्र में चिच्छक्ति के विकास के उपाय वर्णित हैं। भाष्यकार ने उनका प्रतिपादन सोलहवें मंत्र की व्याख्या में किया है।

सत्रहवें मंत्र में जीव कहता है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत मेरे अधीन न होकर उनके अधिष्ठाता आचारलिङ्ग, गुरुलिङ्ग, शिवलिङ्ग, चरलिङ्ग और प्रसादलिङ्ग के अधीन हैं। अतः पंचभूतों को उन्हें ही समर्पित करने की भावना रखनी चाहिए। पंचभूतों की समष्टि हमारा शरीर भी है, जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर के रूप में त्रिविध है, चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षज्ञानगम्य और हविर्द्रव्यस्वरूप है, उसे भी चिदग्नि में समर्पित करना चाहिए और शरीर को भस्मीभूत समझकर इष्टादि त्रिविध लिङ्ग से उसका सामरस्य स्थापित करना चाहिए। मोक्ष की क़ामना से किये गये सभी कर्मों को शिवार्पित समझना चाहिए। फलतः मुक्ति मिलती है।

अन्त में वह तेजस्तत्त्वात्मक शक्तिविशिष्ट 'अग्नि'स्वरूप शिव से प्रार्थना करता है कि 'प्रभो! मोक्षप्राप्ति के लिए गमनागमनरहित दक्षिणायन से भिन्न सत्पथ पर प्रवृत्त करें। यतः आप मेरी सभी गतिविधि जानते हैं, अतः आप दुःखादि उत्पादक अशुभ कार्म मल को हमसे अलग करें।' 'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम' — 'आपको मेरा वारंवार प्रणाम निवेदित है।' इस मंत्र की भिन्न व्याख्या भी भाष्यकार ने की है, जो वहीं द्रष्टव्य है और यहीं उपनिषद् के भाष्य की समाप्ति होती है।

ऋतु-लोक-वसु-ब्रह्ममितेऽब्दे शालिवाहने ।
वैशाखमासि पञ्चम्यां व्याख्येयं प्राप पूर्णताम् ।।

ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी ने इस अंतिम पद्य में 'शाङ्करी व्याख्या' की रचना-तिथि का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार १८३६ शालिवाहन शक तदनुसार वैशाख मास की पंचमी तिथि को यह शाङ्करी व्याख्या परिपूर्ण हुई। १९१४ ईसवी सन् के अनुसार यह तिथि पड़ती है।

'ईशावास्योपनिषद्' की शाङ्करी व्याख्या तथा अन्य उपनिषदों पर वीरशैव-भाष्यों के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र शाङ्करी वृत्ति में ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी ने वीरशैवमत के स्वरूप का अत्यंत पाण्डित्यपूर्ण शैली में सप्रमाण विवेचन किया है. जिनके अवलोकन से आपकी सर्वतोमुखी दार्शनिक प्रतिभा का परिचय सम्प्रदायानुयायी सहृदय कर सकते हैं।

'ईशावास्योपनिषद्' की ज्ञान-कर्मसमुच्चयपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'वीरशैवभाष्य'कार ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री 'शान्तिमंत्र' में ब्रह्मस्वरूप शिव के पूर्णस्वरूप का विवेचन करते हैं और लिङ्ग, अङ्ग, लिङ्गाङ्गसामरस्य, अङ्गस्थलोद्रेक, पुनश्च परशिवलिङ्ग में उसका विलय तथा 'दीक्षा' पदार्थ की विवेचना करते हैं।

प्रारंभिक मंत्र में 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'ईश' पदार्थ, उसका त्रिविध स्वरूप, त्रिविध पदार्थ, त्रिविध जीव, जगत् के साथ उसका शिवाविनाभावसम्बन्ध, त्रिविध प्रसाद-ग्रहण विधान, शिवेतरप्रसाद का निषेध और जगत् के मिथ्यात्ववाद का खण्डन किया गया है।

अग्रिम मन्त्रों में शिवलिङ्गपूजनादि की नित्यविधि, सभी पतिधर्मों का परस्पर संबंध, कर्मनिर्लिप्तता, असुर्यलोक, भक्तिमार्ग की मुक्तिप्रदायकता, ध्येय-लिङ्गस्वरूप, लिङ्गोपासनाविधि, अद्वैतभक्तिप्रकार, विद्या-अविद्या-उभयसमुच्चय, विद्या कर्म-समुच्चय की मोक्षफलप्रदातृता, विद्या और अविद्या का स्वरूप, लिङ्गधारण की महत्ता, पशुकर्म का निषेध, शिव-शक्ति-उभय उपासना का फल, प्राणलिङ्ग का जीवात्मा से अभेद, शिवयोगी का अभ्यासक्रम, पाञ्चभौतिक पदार्थ एवं शरीर की चिदग्नि में समर्पणबुद्धि, सुषुम्नामार्ग का मोक्षप्रापकत्व आदि विषय अत्यंत पाण्डित्यपूर्ण शैली में श्रुति, स्मृति, पुराण, आगमादि ग्रन्थों के वचन प्रमाणपूर्वक प्रतिपादित किये गये हैं, जिनसे उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री : व्यक्तित्व और कृतित्व

सन् १९७६ ई० में मैसूर में प्रकाशित वीरशैवभाष्यसहित ईशावास्योपनिषद् के देवनागरी-संस्करण में ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की तालिका प्राप्त होती है, जो जगद्गुरु उज्जयिनीसद्धर्मसिंहासन द्वारा संचालित ज्ञानगुरु

विद्यापीठ के संरक्षण में प्रकाशित हुए हैं। वह तालिका इस प्रकार है — (१) ईशावास्योपनिषद्– शाङ्करी व्याख्या, (२) केनोपनिषद् – शाङ्करी व्याख्या, (३) मुण्डकोपनिषद् – वीरशैवभाष्य, (४) सिद्धान्तशिखोपनिषद् – वीरशैवभाष्य, (५) ब्रह्मसूत्रवृत्ति, (६) श्रीकरभाष्य (चतुःसूत्री कन्नड-अनुवाद), (७) वीरशैवेन्दुशेखर, (८) ब्रह्मोपदेशविधि, (९) शिवार्चनचन्द्रिका, (१०) सद्धर्मज्योति, (११) सिद्धलिङ्गशतक, (१२) सिद्धलिङ्गशिवयोगिचरित और (१३) श्रीजगद्गुरु रेणुकगीता (आंग्लभाषानुवादसहित)।

ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री का संक्षिप्त परिचय 'ईशावास्योपनिषद्' की 'शाङ्करी व्याख्या' की पुष्पिका से प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है —

।। इति श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वर-जगद्गुरु-चरपट्टाध्यक्ष-सिद्धलिङ्ग-राजदेशिकेन्द्रमहास्वामिनां संस्थानाऽऽस्थानपण्डितेन महीशूरश्रीमन्महाराजास्थान-विद्वज्जनप्रदत्तप्रशस्तियुतेन धर्मरत्नपदवीभूषितेन धारवाडजिल्ला-हुब्बल्लीप्रदेशान्तर्गत-उमचिगिपुरमध्यविद्योतमानवरिष्ठमठाधिपश्रीमदय्यप्पार्यपुत्रेण शङ्करशास्त्रिणा विदुषा विरचितेयम् ईशावास्योपनिषच्छाङ्करीव्याख्या समाप्ता ।।

इस पुष्पिका से ज्ञात होता है कि आप उज्जयिनी सद्धर्मसिंहासन (सद्धर्मपीठ) पीठाधीश्वर-जगद्गुरु-चरपट्टाध्यक्ष-सिद्धलिङ्गराजदेशिकेन्द्रमहास्वामीजी के संस्थान के आस्थान (राजसभा) पण्डित थे। मैसूर-नरेश की राजसभा के विद्वज्जनों द्वारा आप सभापति और 'धर्मरत्न' पदवी से सुशोभित थे। आपके पिता श्री आर्य अय्यप्पा हुबली-धारवाड़ में स्थित उमचिगि ग्राम के मध्य प्रकाशमान वरिष्ठ मठ के मठाधीश थे।

'वीरशैवभाष्य'सहित 'ईशावास्योपनिषद्' (१९७६ ई० संस्करण) के सम्पादक श्री एम्० जी० नञ्जुण्डाराध्य पुस्तक की प्रस्तावना में आपके लिए 'श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनमहासंस्थानाऽऽस्थानविदुषा' इस विशेषण का प्रयोग करते हैं।

'केनोपनिषद्' की शाङ्करीव्याख्या में ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री स्वयं को वृष्टिमठ का अधीश्वर कहते हैं, जो उमचिगि के मध्य में विद्योतमान था। (द्र० चतुर्थ खण्ड की पुष्पिका – 'उमचिगिपुरमध्यविद्यो्तमानवृष्टिमठाधीश्वरेण ····· शङ्करशास्त्रिणा')। जिस प्रकार केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के आर्थिक अनुदान से 'ईशावास्योपनिषद्' का प्र ाशन किया गया था, उसी प्रकार केन्द्रीय सरकार की

सहायता से जगद्गुरु श्रीमरुळाराध्य शिवाचार्य स्वामीजी ने मैसूर में स्थित शिवप्रकाश मन्दिर द्वारा मुद्रित और शङ्करविलास संस्कृत पाठशाला द्वारा इसे प्रकाशित किया। इसकी प्रस्तावना भी स्वामीजी ने संस्कृत में लिखी है। इसका प्रथम संस्करण कन्नड- अनुवादसहित कन्नड-लिपि में और द्वितीय संस्करण कन्नड-अनुवादसहित देवनागरी-लिपि में प्रकाशित किया गया।

ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी द्वारा प्रणीत 'मुण्डकोपनिषद्' के वीरशैवभाष्य का देवनागरी-संस्करण कन्नड-अनुवादसहित १९६१ ई० में श्रीमन्महाराज संस्कृत महापाठशाला, मैसूर के वीरशैवागम प्राध्यापक श्री म० गं० नञ्जुण्डाराध्य द्वारा प्रकाशित किया गया। इसकी पद्यात्मक ग्रन्थप्रतिज्ञा से ज्ञात होता है कि ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी मैसूर-नरेश श्रीकृष्ण चामराज के सभापण्डित थे। वह इस प्रकार है —

विद्युद्दीप्तविशालसौधविलसन्मैसूरसंवासिनः
श्रीमद्रामकथाभिरामचरितश्रीकृष्णपृथ्वीपतेः ।
आस्थानस्य विभूषणेन विदुषा वेदान्तविद्याब्धिना
श्रीमच्छङ्करशास्त्रिणा शिवमुदे व्याख्यायते मुण्डकम् ।।७।।

आप उज्जयिनी महापीठ के उस समय भी आस्थानपण्डित थे, जब उस पीठ को श्री सिद्धलिङ्गशिवाचार्य के द्वारा अभिषिक्त श्री सिद्धेश्वर शिवाचार्य ने विभूषित किया था। अतः वे 'मण्डूकोपनिषद्' भाष्य के आदिमंगल में उनकी वन्दना इस प्रकार करते हैं —

सिद्धलिङ्गशिवाचार्यकरकञ्जसमुद्भवम् ।
सिद्धेश्वरं शिवाचार्यं वन्देऽहं तं जगद्गुरुम् ।।५।।

इस ग्रन्थ-भाष्य के प्रारंभ में सम्पादक द्वारा भाष्यकार का परिचय दिया गया है। उसके अनुसार आपका जन्म कर्नाटक प्रान्त के धारवाड जिला स्थित उमचिगि ग्राम में उन्नीसवीं सदी के अन्त में हुआ। आप साहित्य, व्याकरण, न्याय, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा आदि दर्शनशास्त्रों में पारंगत थे। पहले आप शिवयोग महामन्दिर के संस्थापक श्री श्रीकुमार महास्वामीजी की छत्रछाया में वहीं ग्रन्थ-सम्पादन करते थे। आप हैदराबाद स्थित द्वादशज्योतिर्लिङ्गों में अन्यतम परली-वैद्यनाथेश्वर में उभरे १९१८-२० ई० के पूजा-अधिकार-विषयक विवाद में निमंत्रित प्रधानपण्डितों में प्रतिनिधि-पण्डित थे।

आपकी ईशावास्योपनिषद्-व्याख्या १९२० ई० में, केनोपनिषद्-व्याख्या १९२३ ई० में, तदनन्तर 'सिद्धान्तसुधाकर' (वादग्रन्थ) और सिद्धान्तशिखोपनिषद् वीरशैवभाष्य का प्रकाशन १९२७ ई० में किया गया। पश्चात् इनके देवनागरी-संस्करण प्रकाशित किये गये। अब इनके हिन्दी-संस्करण वाराणसी से प्रकाशित हो रहे हैं, यह हर्ष का विषय है।

सभाष्य 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' का देवनागरी-संस्करण ब्रह्मश्री गुरुशान्त-शास्त्रीजी के कन्नड-अनुवाद के साथ एम्० जी० नञ्जुण्डाराध्य के सम्पादकत्व में मैसूरस्थित श्रीशङ्करविलास संस्कृत पाठशाला के अध्यक्ष उज्जयिनी-सद्धर्मसिंहासनाधीश्वर-जगद्गुरु-चरपट्टाध्यक्ष श्रीमरुळाराध्य शिवाचार्य महास्वामीजी द्वारा १९८५ ई० में प्रकाशित किया गया। इस संस्करण की भूमिका सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के वेदान्त-विभाग में कार्यरत गुळेदगुड्ड अमरेश्वर मठाध्यक्ष द्वारा लिखी गयी है। भाष्यकार द्वारा प्रणीत 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' वीरशैवभाष्य के मंगलपद्य से ज्ञात होता है कि ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री नन्दिगोत्र में उत्पन्न थे। वे लिखते हैं —

शङ्कराख्यसुधीः शान्तो नन्दिगोत्रसमुद्भवः ।
शङ्करप्रीतये भाष्यं कुरुते शाङ्करव्रती ।।

आपने अपने पिताश्री आर्य अय्यप्पा तथा मातृश्री चन्नाम्बा की वन्दना करते हुए भाष्य के शुभारम्भ का संकल्प लिया, जिससे आपके माता-पिता का नाम अवगत होता है। वह श्लोक इस प्रकार है —

अय्यप्पार्यः पिता यस्य चन्नाम्बा जननी तथा ।
सोऽहं श्रीपितरौ नत्वा भाष्यं कर्तुं समारभे ।।

इसके पूर्व आपके द्वारा प्रणीत वीरशैवभाष्य से सुशोभित 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' का कन्नड-संस्करण १९३० ई० में पण्डित श्रीकाशीनाथशास्त्रीजी द्वारा मुद्रित और प्रकाशित किया गया, यह उसकी भूमिका से विदित होता है। आपके द्वारा प्रणीत पूर्ण ग्रन्थतालिका पूर्व में प्रस्तुत है, जिसका विवेचन अन्यत्र होगा।

इस प्रकार ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्रीजी ने अपने चतुरश्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व से कीर्तिमान स्थापित करते हुए अजर-अमर परमसुखास्पद शाश्वत परमशिवपद प्राप्त किया।

प्रस्तुत संस्करण

'ईशावास्योपनिषद्' का वीरशैवभाष्यसहित संस्करण सर्वप्रथम कर्नाटक-लिपि में कन्नड-अनुवादसहित उज्जयिनीसद्धर्मसिंहासन द्वारा संचालित ज्ञानगुरु विद्यापीठ द्वारा मुद्रित और प्रकाशित किया गया। अनन्तर १९७६ ई० में मैसूर स्थित महाराजा संस्कृत कॉलेज के सेवानिवृत्त वीरशैवागम प्राध्यापक एम्० जी० नञ्जुण्डाराध्य के सम्पादकत्व में उज्जयिनी महापीठ के पट्टाध्यक्ष विद्वद्वरेण्य श्री शिवप्रकाश स्वामी शिवाचार्य द्वारा श्रीशङ्करविलास संस्कृत पाठशाला, मैसूर के लिए उज्जयिनीमहापीठ की छत्रछाया में कन्नड-अनुवादसहित देवनागरी-लिपि में मुद्रित और प्रकाशित किया गया। अब इसका हिन्दी-संस्करण श्रीक्षेत्र काशीस्थित श्रीविश्वाराध्यसिंहासन द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है, यह अत्यन्त आनन्द और गौरव का विषय है।

वीरशैव-सत्साहित्य के प्रकाशन का शुभ-संकल्प लेकर शक्तिविशिष्टाद्वैतभाष्य-सहित कतिपय उपनिषदों के राष्ट्रभाषानुवाद का गुरुतर दायित्व परमश्रद्धेय श्रीमत्काशीविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाधीश्वर १००८ श्रीविभूषित जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी द्वारा इस अकिञ्चित्कर जीव को सौंपा गया, यह उसके लिए गौरवमयी वाङ्मयी शिवसपर्या ही है। इस क्रम में ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री द्वारा प्रणीत 'रत्नावली शाङ्करी' व्याख्यानामक वीरशैवभाष्यसहित 'ईशावास्योपनिषद्' की हिन्दी भावार्थदीपिका के रूप में श्रद्धावनत होकर श्रीशिवचरणों में इस जीव का यह प्रथम भावपुष्प-समर्पण है।

जन्म-जन्मान्तरीण पूर्व सुकृत के फलस्वरूप मुक्तिपुरी काशी में संस्कृत-विश्वविद्यालयीय सेवा के साथ कर्मक्षेत्र में प्रवेश से लेकर अब तक श्रद्धेय गुरुकल्प पण्डितप्रवर श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदीजी का सन्मार्गदर्शन मिल रहा है, जिससे इस जीव की निरन्तर शक्तिसंवर्धन की तथा ज्ञान-पिपासा की तृष्णा बलवत्तर हो रही है। परमस्नेहसिक्त मित्रबन्धु पण्डितप्रवर श्री गणपतिशास्त्री ऐताल के द्वारा किये गये कतिपय स्थलों पर ग्रन्थग्रन्थिभेदन से यह भावार्थदीपिका परिपूर्ण हो सकी। यह जीव द्विवेदीजी के चरणों में सविनय प्रणामाञ्जलि निवेदित कर रहा है। मित्रबन्धु के प्रति केवल कृतज्ञता-ज्ञापन की औपचारिकता निभाना उचित नहीं है।

इसकी मुद्रणशुद्धि का सम्पूर्ण श्रेय मुद्रणाक्षरसंशोधनविशेषज्ञ पण्डित श्री नरहरि पुरुषोत्तम रङ्गप्पाजी को जाता है। शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस के अक्षर-

संयोजकगण श्री चिदानंद ओ० हिरेमठ (कसगी) तथा श्री राजशेखर जी० हिरेमठ दोनों कार्यकर्ताओं के अनवरत परिश्रम से जौहरी प्रिण्टर्स द्वारा इसका आकर्षक मुद्रण हो सका है। प्रकाशन-सामग्री के संवाहक के रूप में परस्पर-सम्पर्क स्थापित करनेवाले श्रीगोपालजी के महत्त्वपूर्ण सहयोग से इस ग्रन्थ का मुद्रण हो सका। इन सबको मैं किस प्रकार भूल सकता हूँ?

अन्त में पूज्यपाद श्री अप्पय्यदीक्षित के शब्दों में मात्र इतना ही निवेदन है —

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः ।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छत्ति ।।

महाशिवरात्रि २०५२ वै०
१७-२-१९९६, शनिवार

भगवच्चरणारविन्दचञ्चरीक
जगन्नाथशास्त्री तैलङ्ग



विषय-सूची



ईशावास्योपनिषद्

शाङ्करीव्याख्यानामक-भावार्थदीपिकोपेता

शिष्यान्धकारपटलीहरणैकलोलं
श्रीवीरशैवमतदुग्धमहाब्धिसोमम् ।
ध्यायामि भूमिपललामनताङ्घ्रिपद्मं
श्रीसिद्धलिङ्गगुरुमुज्जयिनीनिवासम् ।।१।।

यतो वेत्यादिवाक्यस्थं यत्पदं यत्र वर्तते ।
यत्परं सूत्रतो लब्धं यत्पदं नौमि तत्पदम् ।।२।।

शिष्यों के गाढ अज्ञानान्धकार राशि का हरण करने में अत्यंत त्वरित-गति, श्रीवीरशैवदर्शनस्वरूप क्षीरमहासागर के चन्द्रमा, राजाओं के मस्तक जिनके चरण-कमलों पर झुक जाते हैं, मैं उन (पंचाचार्यों में अन्यतम) [1]उज्जयिनी पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री सिद्धलिङ्ग शिवाचार्य का ध्यान करता हूँ।।१।।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति-वाक्य में अवस्थित जो पद जहाँ रहता है, 'जन्माद् यस्य यत:' इत्यादि ब्रह्मसूत्र से प्राप्त जो पद जिसके तात्पर्य को विश्लेषित करता है, मैं उस 'ॐकार'वाच्य निष्कल घनलिङ्ग को नमन करता हूँ।।२।।

---

१. मध्यप्रदेश के अन्तर्गत 'उज्जयिनी पीठ' को वहीं वटवृक्षस्थित श्रीसिद्धेश्वरमहालिङ्ग से प्रकट श्रीमरुलाराध्य ने स्थापित किया। वीरशैव-संप्रदाय-प्रवर्तक पञ्चाचार्यों का अवतरण प्रत्येक युग में परम शिव के पाँच मुखों से होता है। इन द्वितीय आचार्य का अवतरण परशिव के अघोर नामक मुख से होता है यह प्रसिद्धि है। सत्ययुग में ये द्व्यक्षरशिवाचार्य, त्रेतायुग में द्विवक्त्रशिवाचार्य और द्वापरयुग में दारुकशिवाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए। कालान्तर में इन्होंने इस पीठ को कर्णाटक प्रदेश के बल्लारिमण्डल के उज्जयिनी ग्राम में स्थानान्तरित किया। इनका सिंहासन सद्धर्मसिंहासन नाम से तथा यह पीठ सद्धर्मपीठ नाम से विख्यात है। इस पीठ को अब तक ११० जगद्गुरु अलंकृत कर चुके हैं, उसी परम्परा में भाष्यकार के दीक्षागुरु श्री सिद्धलिङ्ग शिवाचार्य भी हैं, जिनका ध्यान भाष्यकार कर रहे हैं।

प्रथमं यस्य चैकत्वं पुनर्द्वित्वमतः परम् ।
त्रित्वषट्त्वयुतं यच्च स्थलसंज्ञं नमाम्यहम् ।।३।।

शङ्करः शङ्करप्रीत्यै कुरुते शाङ्करं परम् ।
ईशावास्योपनिषदो व्याख्यानं सारगुम्फितम् ।।४।।

मैं (शङ्कर शास्त्री) उस [1]'स्थल' नामक लिङ्गस्वरूप परमशिव को प्रणाम करता हूँ, जो प्रथम एक रूप, उसके पश्चात् दो रूप और उसके अनन्तर तीन और छः रूपों को धारण करता है।।३।।

(उमचिगी शङ्कर शास्त्री प्रतिज्ञा करते हैं कि) शङ्कर शास्त्री परमशिव को प्रसन्न करने के लिए ईशावास्योपनिषद् की वीरशैवदर्शनसम्मत सारगर्भ व्याख्या कर रहे हैं ।।४।।

---

१. यहाँ वीरशैवदर्शन का यह रहस्य समझना चाहिए—ॐकारवाच्य निष्कल घनलिङ्ग ही 'स्थल' नाम मे जाना जाता है, वह वास्तव में एक ही है। फिर वह अपनी चितिशक्ति के विक्षोभमात्र से लिङ्गस्थल और अङ्गस्थल इस प्रकार दो रूपों में विभक्त होता है। उनमें सच्चिदानन्दस्वरूप लिङ्गस्थल आनन्दकला से विशिष्ट होकर भावलिङ्ग के रूप में, चित्कला से विशिष्ट होकर प्राणलिङ्ग के रूप में और सत्ताकला से विशिष्ट होकर इष्टलिङ्ग के रूप में इस प्रकार त्रिविध रूप धारण करता है। त्रिविध लिङ्ग स्वगत उपाधिभेद से प्रत्येक दो प्रकार का है। भावलिङ्ग के दो रूप हैं—महालिङ्ग (शान्त्यतीतोत्तर कला से विशिष्ट) और प्रसादलिङ्ग (शान्त्यतीत कला से विशिष्ट)। प्राणलिङ्ग के भी दो भेद हैं—जङ्गमलिङ्ग (शान्तिकला से विशिष्ट) और शिवलिङ्ग (विद्याकला से विशिष्ट)। इष्टलिङ्ग भी द्विविध है—गुरुलिङ्ग (प्रतिष्ठाकला से विशिष्ट) और आचारलिङ्ग (निवृत्तिकला से विशिष्ट)। इस प्रकार लिङ्गस्थल के छः भेद हैं, जो आज्ञाचक्र से लेकर आधारचक्र पर्यंत छः चक्रों में रहते हैं। इसी प्रकार अङ्गस्थल (जीव) के भी अपनी भक्ति उपाधि से तीन भेद हैं—योगाङ्ग (विशुद्ध भक्ति से विशिष्ट), भोगाङ्ग (विचारभक्ति से विशिष्ट) और त्यागाङ्ग (विधेयभक्ति से विशिष्ट)। इनमें योगाङ्ग के दो रूप हैं—ऐक्यस्थल (समरसभक्ति से विशिष्ट) और शरणस्थल (आनन्दभक्ति से विशिष्ट)। भोगाङ्ग भी द्विविध है—प्राणलिङ्गिस्थल (अनुभवभक्ति से विशिष्ट) और प्रसादिस्थल (अवधानभक्ति से विशिष्ट)। त्यागाङ्ग भी दो प्रकार का है—माहेश्वरस्थल (नैष्ठिकभक्ति से विशिष्ट) और भक्तस्थल (श्रद्धाभक्ति से विशिष्ट)। लिङ्गस्थल और अङ्गस्थल इन दोनों में अनुग्राहक होने के कारण अङ्गस्थल द्वारा लिङ्गस्थल उपास्य (पूजार्ह) होता है और अनुग्राह्य होने के कारण अङ्गस्थल लिङ्गस्थल का उपासक होता है। इस प्रकार उपासना के लिए उपास्य-उपासकभाव को प्राप्त होनेवाले लिङ्गस्थल और अङ्गस्थल दोनों में भ्रमरकीटन्याय से अभेद में पर्यवसान ही भाष्यकार द्वारा 'स्थल'संज्ञक ॐकारवाच्य निष्कल घनलिङ्ग के नमन का हेतु है।

एतदुद्यमतः सर्वे तुष्यन्तु प्रहसन्तु वा ।
यस्मादहं वीरशैवः स्वकर्तव्यमवैमि तम् ।।५।।
तस्मादीशप्रसादोऽस्तु ह्येतत्कार्यसमाप्तये ।
ईशानुग्रहतः ख्याता व्याख्या भवतु शाङ्करी ।।६।।

भाष्योपक्रमः

कर्मज्ञानसमुच्चयपराणामीशावास्यादिमन्त्राणां केवलमात्मनो याथार्थ्यप्रकाशकत्वाभावात्, प्रसादग्रहण-शिष्यवामहस्तलिङ्गस्थापनादिपतिकर्मादौ विनियुक्तत्वात्, तत्प्रतिपादकत्वाच्च, "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इत्यादिना कर्मज्ञानसमुच्चयप्रतिपादकत्वात्; "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" इत्यनेन प्रसादग्रहणविधानात्, लिङ्गत्रयधारणनिरस्ताङ्गत्रयसङ्गतमलत्रयस्य, समारोपितशिवत्वसमावेशबीजस्य तदङ्कुर-

---

इस उद्यम से लोग प्रसन्न हों अथवा उपहास करें (मैं इसकी ओर ध्यान नहीं देता।) यतः मैं वीरशैवदर्शन-धर्म-सम्प्रदाय का अनुयायी हूँ, अतः अपने कर्तव्य को (अच्छी प्रकार से) समझता हूँ, जानता हूँ।।५।।

अतः इस कार्य को समाप्त करने के लिए मेरे ऊपर परमेश्वर का परम-कृपा-प्रसाद बना रहे और परमेश्वर के असीम अनुग्रह से मेरी शाङ्करी व्याख्या विश्वविख्यात हो।।६।।

उपक्रम

'ईशावास्योपनिषद्' में १८ मंत्र हैं। वे सभी मंत्र कर्म और ज्ञान दोनों के समुच्चय को प्रधानता देते हैं। वे केवल ॐकारवाच्य निष्कल घनलिङ्गस्वरूप परमशिव-परब्रह्म-परमात्मा के यथार्थ (वास्तविक) स्वरूप को प्रकाशित नहीं करते। प्रसाद-ग्रहण, योग्य गुरु के द्वारा दीक्षित शिष्य के वामहस्त में लिङ्ग-स्थापन तथा अर्चाविधान, पतिकर्म आदि में उनका विनियोग करते हुए उनका वे उसी प्रकार प्रतिपादन करते हैं। 'विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह' इस मंत्र द्वारा यह प्रतिपादन करते हैं कि केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म मोक्षफल प्रदान नहीं करते, अपितु दोनों का समुच्चय मोक्षफल प्रदान करता है। प्रथम मंत्र में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस आदेश के द्वारा प्रसाद-ग्रहण का विधान किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जीव के द्वारा गंध, रस, रूप आदि वैषयिक पदार्थों को सच्चिदानन्दघन परमशिव के त्रिविध स्वरूप में अन्यतम को समर्पित करके उससे विसृष्ट शुद्ध, सिद्ध और प्रसिद्धरूप के प्रसाद को ग्रहण करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जब विश्व (त्यागाङ्ग), तैजस (योगाङ्ग) और प्राज्ञ (भोगाङ्ग) इन रूपों

पल्लवादिवृद्ध्यर्थं "यत्किञ्चिदपि वस्तुजातं प्राणलिङ्गेऽस्मिन्नसमर्प्य न स्वीकुरु" इत्यादिदीक्षावसरोक्तगुर्वनुशासनमिव गुरुकृतशिष्यानुशासनकर्मणि विनियुक्तत्वाच्च। नाऽतो लिङ्गप्रसादग्रहणादिपतिकर्मणा ज्ञानस्य विरोधः फलैक्यात्। नहि लेपनमन्तरा वनस्पतिज्ञानादेव शिरःपीडादिनाशो दृष्टचरः।

नहि भवत्येकेनैव च्छदेनोर्ध्वगमनं पक्षिणः। न तावत्पित्तादिदोषग्रस्तनेत्रस्य यथावद्वस्तुपरिज्ञानेऽपि 'पीतः शङ्ख' इति ज्ञाननिवृत्तिरनुभवपथमारोहति। नहि पङ्गुरन्धो वा वियुक्तः सन्निष्टदेशं गच्छति। अत एवोक्तमत्रैवोपनिषदि – "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" इति। उक्तं च स्पन्दप्रदीपिकायाम् –

में अवतीर्ण जीव सद्रूप गुरु भावलिङ्ग, चिद्रूप जङ्गम प्राणलिङ्ग तथा आनन्दरूप इष्टलिङ्ग को धारण करता है, तब उसके आणव, मायीय और कार्मिक मल दूर हो जाते हैं। उसमें शिवत्व (जीवशिवैक्य) के शाम्भव समावेश का बीज स्थापित होता है। उसके अङ्कुर, पल्लव आदि की अभिवृद्धि के लिए दीक्षागुरु अपने शिष्य को अनुशासित करता है—'किसी भी वस्तु (पदार्थ) को बिना चिद्रूप जङ्गम प्राणलिङ्ग को समर्पित किये स्वीकार न करना, समर्पण के बाद उच्छिष्ट प्रसाद के रूप में ही ग्रहण करना।' ईशावास्योपनिषद् के मंत्रों का भी विनियोग प्रसाद-ग्रहण के इस आदेश में है। प्रसाद-ग्रहण आदि पतिकर्म के अन्तर्गत हैं। इनका ज्ञान से कोई विरोध नहीं है; क्योंकि दोनों का फल एक है–मोक्ष। उदाहरण के लिए मस्तक की पीडा को लें। वनस्पतिविशेष के लेप से वह दूर होता है। यह ज्ञान सर्वप्रथम हमें होना चाहिए और वह पीडा दूर करने के लिए मस्तक (ललाट) में वह लेप लगाना आवश्यक है। केवल वनस्पति के ज्ञान से बिना लेप के मस्तक-पीडा का नाश आज तक नहीं देखा गया। अतः ज्ञान और कर्म दोनों जरूरी हैं।

पक्षी केवल एक पंख से आकाश में उड़ नहीं सकता। पीलिया आदि से ग्रस्त नेत्ररोगी को पदार्थ का वास्तविक चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी 'यह शंख पीला है' इस भ्रमात्मक ज्ञान का निरसन दूर नहीं होता। लँगड़ा और अंधा दोनों मिलकर ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं, क्योंकि लँगड़ा चल नहीं सकता, देख सकता है। अंधा देख नहीं सकता, चल सकता है। दोनों अलग-अलग होकर अपने गन्तव्य स्थल पर नहीं पहुँच सकते। अतः ज्ञान एवं कर्म दोनों का समुच्चय अनिवार्य है। इसीलिए इस उपनिषद् में कहा गया है —

'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' (मंत्र ९)

यदि वा जनिताद् ज्ञानान्मुक्तिः स्याद् भावनां विना ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्मुच्येरन् सर्वजन्तवः ।। इति।

अग्रेऽप्येतत् स्फुटीभविष्यति। तस्मादीशावास्यमित्यादिमन्त्राणां कर्मज्ञान-समुच्चयपरत्वेनैव व्याख्येयत्वात् ते तत्परत्वेनैव व्याख्यास्यन्ते।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते ।।
।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

जो कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म छोड़कर केवल आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे गहन अज्ञानान्धकार में डूबते हैं। 'स्पन्दप्रदीपिका' में भी कहा गया है —

"यदि वा जनितात् ज्ञानान्मुक्तिः स्याद् भावनां विना ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्मुच्येरन् सर्वजन्तवः ।।"

बिना भावना (जीवशिवैक्य) के उत्पन्न परमात्मा के शब्दज्ञान से मोक्ष यदि होने लगे, तो सभी प्राणी शारीरिक और मानसिक कष्टों से मुक्ति पायेंगे। परन्तु बिना कर्मयोग के मोक्षप्राप्ति असंभव है।

आगे भी यह विषय स्पष्ट होगा। अतः 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या कर्म और ज्ञान दोनों के समुच्चयपरक करनी चाहिए। अतः आगे इन मन्त्रों की समुच्चयपरक व्याख्या ही की जा रही है।

श्रुति कहती है — 'एकोऽहम्, बहु स्याम्'। परब्रह्म शिव 'मैं' एक ही हूँ। सृष्टि की इच्छा से मैं 'अनेक' होता हूँ। प्रस्तुत शान्तिमन्त्र में इसीका उपबृंहण किया गया है।

'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' — 'अदः पूर्णम्', 'इदं पूर्णम्'। जब तक शिव की निज-शक्ति विकसित रहती है, जब तक उसमें क्षोभ नहीं होता, तब तक वह 'पूर्ण' सर्वव्यापक, अखण्ड, अभिन्न, अद्वितीय, एक ही रहता है। 'अदः' (तत्) और 'इदम्' (त्वम्) नाम-निर्देशमात्र हैं। अर्थात् जो 'तत्' है, वही 'त्वम्' है, जो 'त्वम्' है, वही 'तत्' है। जीव ही शिव है, शिव ही जीव है।

'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' — परब्रह्म शिव जब सृष्टि की कामना करता है, तब उसमें क्षोभ होता है। सृष्टि के पूर्व तक वह 'स्थल' (लिङ्गस्थल) कहलाता है। सृष्टि की स्थिति

पूर्णमद इति। अदः तत्पदार्थरूपं लिङ्गम्, पूर्णं सर्वव्यापकम्। इदं त्वम्पदार्थरूपं सर्वव्यवहारापन्नम् अहन्तास्पदम् अङ्गस्थलं यद् वर्तते, तदपि विकसितस्वशक्तिदशायां पूर्णं सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यवल्लिङ्गस्वरूपमित्यर्थः। एतावता लिङ्गाङ्गयोरभेदमुक्त्वा सङ्कुचितस्वशक्तिदशावच्छिन्नभेदोऽप्युच्यते। पूर्णात् सर्वकारण-रूपात् परब्रह्मणो लिङ्गात् पूर्णं चैतन्यरूपेण पूर्णम् अङ्गस्थलम् उदच्यते उद्रिच्यते। परब्रह्मलिङ्गस्थलात् स्वशक्तिक्षोभमात्रेण भिद्यत इत्यर्थः।

इत्थं भिन्नं सुखदुःखास्पदं स्वात्मानमपूर्णं मन्यमानं संसार्यङ्गस्थलं केनोपायेन स्वस्वरूपमादत्ते इत्यत आह—'पूर्णस्ये'ति। पूर्णस्य पञ्चकृत्यकर्तृत्वविशिष्टस्य कारणात्मनो लिङ्गस्य पूर्णं सम्पूर्णं स्वरूपम् आदाय गृहीत्वा गुरुकृतशिवदीक्षाविग-

---

में क्षोभ होते ही उसकी शक्ति सङ्कुचित होती है। फलतः परब्रह्मस्वरूप शिव (लिङ्गस्थल) से अङ्गस्थल का उद्रेक होता है। उस स्थिति में भी परब्रह्म शिव (लिङ्गस्थल) सर्वकारणस्वरूप होने के कारण 'पूर्ण' होता है और उससे पृथक् संसरणशील अङ्गस्थल चैतन्यरूप से पूर्ण होता है। उस स्थिति में 'पूर्ण' से ही 'पूर्ण' का उद्रेक होता है।

इस प्रकार परब्रह्म 'शिव' सृष्टि की स्थिति में 'लिङ्गस्थल' और 'अङ्गस्थल' दो भागों में बँटता है, तब 'लिङ्गस्थल' को 'तत्' नाम से और 'अङ्गस्थल' को 'त्वम्' नाम से सम्बोधित किया जाता है; और हमें परमात्मा और जीवात्मा का, 'शिव' और 'जीव' का पृथक्-पृथक् भान होता है।

शक्ति की विकसित अवस्था में जो शिव 'तत्' कहलाता है, वही सङ्कुचित अवस्था में 'त्वम्' कहलाता है। शिव से पृथक् होने के कारण सुख-दुःख के संसार-चक्र में पड़नेवाला संसरणशील 'जीव' अपने को 'अपूर्ण' समझता है। तब गुरु जीव को शिव से एकता का बोध कराता है — 'तत् त्वम् असि।'

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते' — गुरुकृपा से जीव के आणविक, मायिक और कार्मिक मल हट जाते हैं, उसका चित्त निर्मल, शान्त और स्वच्छ हो जाता है। गुरु-दीक्षा के विविध उपायों से उसके शक्ति का विकास होता है। 'तत् त्वम् असि' वारंवार इस गुरूपदेश से जीव की चित्तवृत्ति परब्रह्मस्वरूप शिवाकार हो जाती है, वह अनुभव करता है — 'अहं ब्रह्माऽस्मि'। अन्त में 'अहम्' का भी विगलन हो जाता है और अवशिष्ट रह जाता है एकमात्र 'पूर्ण' परब्रह्मस्वरूप 'शिव'। नादरूप में उसका स्वरूप है — ॐ।

लितमलविलासं सत् तद्दीक्षान्तर्गतानेकोपायविकसितस्वशक्तिविशिष्टचित्तं भूत्वा, पूर्णमेव व्यापकपरशिवलिङ्गस्थलमेव, अवशिष्यते अवशिष्टं भवति। उक्तं चानुभवसूत्रे —

स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थलं तद् द्विविधं भवेत् ।
एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तमन्यदङ्गस्थलं स्मृतम् ।।

लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वम्पदमीरितम् ।
संयोगोऽसिपदप्रोक्तो ह्यनयोरङ्गलिङ्गयोः ।।

उक्तं च शिवसद्भावदातृत्वं दीक्षाया वर्तत इति भट्टश्रीकल्लटाचार्येणापि —

इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ।।

इति कारिकया। काश्मीरकश्रीमदुत्पलाचार्योऽपि —

ददाति ज्ञानसद्भावं क्षपयत्यखिलं मलम् ।
बोधानुवेधाद् दीक्षोक्ता दानक्षपणधर्मिणी ।।

इति दीक्षार्थं व्याचष्टे। उक्तं चान्यत्र —

भक्षणप्रकृतिना समाधिना युक्तितो विषयधाम्नि भक्षिते ।
सर्वभक्षपदवीमुपेयुषः शिष्यते परमभक्षितो भवान् ।।

किञ्च, "विहीनाहङ्कृति ततस्त्वमेव परिशिष्यसे" इति।

संक्षेप में — गुरुकृपा से दीक्षित 'जीव', जब उसकी सङ्कुचित शक्ति विकसित होती है, तब 'पूर्ण' कारणस्वरूप शिव का पूर्ण स्वरूप लेकर (उसमें विलीन होते हुए) अन्त में 'पूर्ण' व्यापक परशिवलिङ्गस्वरूप अवशिष्ट रह जाता है।

'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' — केवल प्रणवाकार शिव ही त्रिविध दुःखों — आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों, अथवा त्रिविध मलों — आणव, मायीय और कार्ममलों का शमन कर सकता है; इसीकी सूचना हमें दे रहा है शान्ति का त्रिवार उच्चारण — ॐ।

यह समस्त स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् 'ईश' से व्याप्त है। वह 'ईश' ऐश्वर्यसम्पन्न एकमात्र 'शिव' है, जो 'लिङ्ग'स्वरूप है। 'शिवरहस्य' के अनुसार वह लिङ्गस्वरूप ईश (शिव) त्रिविध है — इष्टलिङ्ग, जङ्गमप्राणलिङ्ग और गुरुभावलिङ्ग। वह त्रिविध होने पर भी वस्तुतः एक है, और उसीसे यह चराचर जगत् अविनाभावसम्बन्ध से सम्बद्ध है।

'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिरि'ति त्रिरुच्चारस्त्रिमलनाशार्थः, आध्यात्मिकादि-दुःखत्रयनाशार्थो वेति। इति शान्तिमन्त्रः।।

'प्रसादो मुक्तिमूलं चे'त्यादि वीरागमोक्तप्रकारेण शिवप्रसादस्य मुक्तिजनकत्वात् 'हे शिष्य, मुमुक्षो त्वं नित्यं त्रिविधलिङ्गभुक्तशेषप्रसादभुग्भवे'ति विधिवदुपपन्नं प्रपञ्चविलयकारणीभूतभक्तियुक्तं दीक्षितं पुत्रं गुरुरूपेणानुशास्ति श्रीभगवती श्रुतिः —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

ईशावास्यमिति। 'ईश् ऐश्वर्ये' क्विपि तृतीयान्तस्यैतद्रूपम्। यद् येन ईशा भावेष्टप्राणलिङ्गरूपगुरुलिङ्गजङ्गमात्मकेन। ईशस्य त्रिविधात्मकत्वं तु —

लिङ्गं स्यादिष्टरूपं तु जङ्गमं प्राणलिङ्गकम् ।
भावलिङ्गं गुरुप्रोक्तं त्रिविधं त्वेकमुच्यते ।।

इति शिवरहस्यादवगम्यते। इदं घटाद्युपलक्षितं सर्वं स्थावरात्मकं जगत्यां यत्किञ्च जङ्गमात्मकं प्राणिजातं च यद्वर्तते तत्सर्वं वास्यं निवासयोग्यं शिवाऽविनाभावेन सम्बद्धम्।

भगवती वेदमाता यही बात कहती है — 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।' और वह 'जीव' को आज्ञा देती है — 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।' हे 'जीव', उस ईश को सम्पूर्ण पदार्थ समर्पित कर अवशिष्ट प्रसाद का उपभोग करो। उस 'जीव' के भी तीन रूप हैं — विश्वरूप, तैजसरूप और प्राज्ञरूप। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार छः सार्वकालिक पदार्थ हैं — (१) गंध, जिसे नासिका ग्रहण करती है। (२) रस, जिसे जिह्वा ग्रहण करती है। (३) रूप, जिसे नेत्र ग्रहण करते हैं। (४) स्पर्श, जिसे त्वचा ग्रहण करती है। (५) शब्द, जिसे कान ग्रहण करते हैं और (६) परिणाम। इन इन्द्रियों में उनके अधिष्ठाता 'ईश' उन-उन इन्द्रियों के नामों से लिङ्गस्वरूप में रहते हैं। उन्हें इन पदार्थों का नैवेद्य दिखाकर जो जीव उन्हें प्रसादस्वरूप ग्रहण करता है, वह सुख प्राप्त करता है। जीव के अधिकारिभेद के अनुसार ये पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं — (१) 'स्थूल' पदार्थ, जिसे 'रूप' भी कहते हैं। (२) प्रविविक्त पदार्थ, जिसे 'रुचि' भी कहते हैं। और (३) 'आनन्द', जिसे 'तृप्ति' भी कहते हैं।

(१) जब 'विश्व'रूप में अवस्थित 'जीव' 'स्थूल' (रूप) पदार्थ अपने 'इष्टलिङ्ग' को समर्पित करता है, तब अवशिष्ट वह पदार्थ 'शुद्ध' प्रसाद होता है। (२) जब 'तैजस' रूप में अवस्थित जीव 'प्रविविक्त' (रुचि) पदार्थ अपने 'जङ्गम' प्राणलिङ्ग को समर्पित

ततः तस्मात्, तेन उक्तशिवलिङ्गेन, त्यक्तेन उपभुज्य विसृष्टेन शुद्धसिद्ध-प्रसिद्धरूपप्रसादेन, भुञ्जीथाः 'भुज् पालनाभ्यवहारयोरि' ति धातोरभ्यवहारं कुर्वित्यर्थः। तदुक्तमनुभवसूत्रे —

इष्टलिङ्गार्पितं शुद्धं प्राणलिङ्गमुखार्पितम् ।
सिद्धं ततः प्रसिद्धं हि भावलिङ्गार्पितं विदुः ।।

तत्तदर्पणतो लब्धं प्रसादं तत्तदादरात् ।
भुङ्क्ते यत्नात् स्वयं विश्वतैजसप्राज्ञरूपतः ।।

अयमत्राशयः — स्थूल-प्रविविक्ताऽऽनन्दाख्यत्रिविधपदार्थान् रूपरुचितृप्त्यपर-पर्यायान् अङ्गत्रयापरपर्याय विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप हे जीव, त्वं लिङ्गत्रये समर्प्य तद्भुक्तशेषं प्रसादं स्वीकुरु। यत्किञ्चिद्वस्तुजातमसमर्प्य न कदापि स्वीकुरु। एवं सर्वेन्द्रियमुखागामिपदार्थदोषनिवृत्त्यर्थं तत्तदिन्द्रियावच्छिन्नलिङ्गषट्के समर्प्य तत्तद्-गन्धादिकं प्रसादं स्वीकुरु। उक्तं चानुभवसूत्रे —

अथ गन्धो रसो रूपं स्पर्शः शब्दस्ततः परम् ।
परिणामः पदार्था हि षडेते सार्वकालिकाः ।।

एवं भूतेषु सर्वेषु पदार्थेषु निरन्तरम् ।
लिङ्गार्पणधिया ह्यात्मा प्रसादसुखमश्नुते ।।

इतः परं शिवातिरिक्तस्य यस्य कस्यचिद् देवस्य प्रसादं माभिकाङ्क्षेदित्याह — 'मा गृधः' इत्यादिना। कस्यस्विद् अन्यस्य कस्यचिदपि धनं प्रसादरूपं मा गृधः

करता है, तब भुक्तशेष पदार्थ 'सिद्ध' प्रसाद बन जाता है। (३) और 'प्राज्ञ' रूप से अवस्थित जीव आनन्द अथवा तृप्ति पदार्थ अपने मनोग्राह्य भावलिङ्ग को समर्पित करता है, तब अवशिष्ट वह पदार्थ 'प्रसिद्ध' पदार्थ बन जाता है। अतः भगवती श्रुति जीव को आज्ञा देती है — 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।' हे जीव! अधिकारिभेद के अनुसार अपने-अपने इष्टलिङ्ग को उस-उस पदार्थ का नैवेद्य लगाकर अवशिष्ट प्रसाद को ग्रहण करो, जिससे तुम्हें परमसुख की प्राप्ति होगी।

आगे वेदमाता जीव को अनुशासित करती है — 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।' किसी अन्य के धन की आकांक्षा न करना। यह 'धन' कोई सामान्य धन नहीं है, अपितु 'शिव' का 'प्रसादधन' है, केवल उसे ही ग्रहण करना, विष्णु आदि अन्य देवताओं को समर्पित नैवेद्य को ग्रहण मत करना।

'गृध् अभिकाङ्क्षायामि'ति धातोः, माभिकाङ्क्षीरित्यर्थः। अनेन शिवलिङ्गेतरविष्ण्वादि-देवताप्रसादनिषेधो विहित इति बोध्यम्।

अत एवोक्तं स्कान्दे शाण्डिल्यस्मृतौ च —

न तथा [illegible]ग्गुभुक्तान्ने प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
न भोज्यं माधवस्यात्रं श्रौतानां मोक्षकाङ्क्षिणाम् ।। इति।

किञ्च कण्वशाखायामपि —

अत्रिगुप्सातमश्नीयाद् यदि पाप्मानमश्नितम् ।
भुङ्क्ष्वा मलं भुङ्क्ष्वाघं भुङ्क्ष्वाऽधो गच्छति ।।

अस्यार्थः —त्रीणि गावो यस्य सः त्रिगुः त्रिलोचनः, तेन प्सातं भक्षितं 'प्सा भक्षण' इति धातोः, तद्भिन्नम् अत्रिगुप्सातं शिवलिङ्गानर्पितमिति यावत्। अश्नीयाद् यदि सः पापभुक् मलभुक् सन् अधो गच्छति। नरकं यातीत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम् — त्रिगुप्सातभिन्नं यद्यद्विष्ण्वादिभुक्तान्नं तत्तद् न भोक्तव्यमिति।

ननु मनुवचने—"निर्माल्यं च निवेद्यं च विशेषेण विवर्जयेत्। रुद्रेण भुक्तं निर्माल्यं न तथा देवतान्तरैः।।" इति, शैवसंहितायां च — "अनर्हं मम निर्माल्यं पादाम्बुकुसुमं जलम्" इति निषेधवचनानां सत्त्वात् कथं शिवलिङ्गभुक्तप्रसादग्रहणं वीरशैवानामिति चेन्न, तादृशवाक्यानां लोभविषयकत्वात्। उक्तं च आदित्यपुराणे —

'स्कन्दपुराण' और 'शाण्डिल्यस्मृति' के अनुसार मोक्ष की कामना रखनेवाले श्रौतकर्मानुष्ठाताओं को मरणासन्न अवस्था में भी विष्णु को समर्पित नैवेद्य ग्रहण नहीं करना चाहिए।

'कण्वशाखो'क्तवचनानुसार 'विष्णु' को समर्पित नैवेद्य-ग्रहण करनेवाला पापभक्षी होने के कारण नरकगामी होता है।

यहाँ पर मनुस्मृति एवं शैवसंहिता के वचनों को देखकर यह शंका होती है कि शिव को समर्पित चरणजल, पुष्प एवं नैवेद्य का जितना निषेध किया गया है, उतना अन्य देवताओं को समर्पित नैवेद्य आदि का नहीं। ऐसी स्थिति में वीरशैवों के लिए शिवलिङ्ग को समर्पित नैवेद्य से अवशिष्ट प्रसाद-ग्रहण का निषेध क्यों किया गया है? इसका समाधान यह है कि वे सभी निषेध-वाक्य लोभवश स्वीकार किये गये प्रसाद-ग्रहण का निषेध करते हैं, जैसा कि 'आदित्यपुराण' का कथन है—'हे नारद! लोभवश शिवनिर्माल्य का न तो स्वीकार करना चाहिए, न शिवप्रसाद का भक्षण करना चाहिए और न चरण से उसका स्पर्श करना चाहिए और न उसका उल्लंघन करना चाहिए।'

"लोभान्न धारयेच्छम्भोर्निर्माल्यं न च भक्षयेत्। न स्पृशेदपि पादेन लङ्घयेन्नापि नारद।।" इति।

अपि च, तादृशनिषेधवाक्यानां शिवसंस्कारवर्जितविषयकत्वं वीरभद्रशपितशिवभक्तिपराङ्मुखविषयकत्वं चेति। "जिह्वाचापलसंयुक्तः शिवसंस्कारवर्जितः। शिवनिर्माल्यभोगी चेद् रौरवं नरकं व्रजेत्।। ये वीरभद्रशपिताः शिवभक्तिपराङ्मुखाः। शम्भोरन्यत्र देवेषु ये भक्ता न च दीक्षिताः।।" इत्यादिवाक्यपर्यालोचनेनापि ज्ञायते।

किञ्च — श्रीरङ्गोजीभट्टात्मजबालकृष्णभट्टविरचितशैवोत्कर्षप्रकाशे शिवलिङ्गधारिणां वीरशैवानां शिवलिङ्गार्पितप्रसादार्हत्वम् —

मल्लिङ्गधारिणो लोके देशिका मत्परायणाः ।
मदेकशरणास्तेषां योग्यं नैवान्यजन्तुषु ।।

इत्यादि शैवसंहितावचनादिना निर्दिष्टम्।

किञ्च, लिङ्गधारिणां परेषामिव उपवासव्रतकरणे प्रत्यवायो निर्दिश्यते। "पादोदकप्रसादाऽन्नसेवनान्मोक्षमाप्नुयात्। स्वेष्टलिङ्गप्रसादी स्यान्नोपवासपरो भवेत्। मोहाद् यस्तु चरंस्तस्य प्रत्यवायो महान् भवेत्।।" इति। तथा च जाबालश्रुतिः — "रुद्रभुक्तं भुञ्जीयात्, रुद्रपीतं पिबेत्, रुद्राघ्रातं जिघ्रेत्, रुद्रेणात्तमश्नन्ति, रुद्रपीतं पिबन्ति" इत्येतद्वचनं च स्कान्देऽप्युपबृंहितम् —"शिष्टाः शान्ताश्च ये रुद्रभुक्तमेव हि भुञ्जते। घ्रातमेव हि जिघ्रन्ति पीतमेव पिबन्ति च।।" इति। ऋग्वेदे — "त्वा दत्तेभी रुद्र शन्तमेभिस्तं हि मा अशीय भेषजेभिः। व्यस्मद्द्वेषो पितरं व्यंहः" इत्यादि। अस्यार्थः – हे रुद्र, त्वया अशीय भुक्त्वा दत्तेभिः दत्तैः शन्तमेभिः सुखतमैः भेषजेभिः संसारभयभेषजैः, तत्परिहारहेतुभिरिति योजना। योऽहं पितरं त्वाम् उपास्य, व्यस्मद्द्वेषः विगताहङ्कारः, अत एव व्यंहः निष्पापोऽभवम्। तं मा

साथ ही ये सभी निषेधवाक्य शिवसंस्कार से वर्जित शिवभक्तिपराङ्मुख तथा अन्यदेवोपासकों के लिए कहे गये हैं। शिवदीक्षा से अदीक्षित अन्यदेवोपासक, जो केवल जिह्वालोलुप होकर शिव-नैवेद्य का ग्रहण करते हैं, रौरवनरकगामी होते हैं। अर्थात् ये सभी निषेधवाक्य वीरशैवों के लिए न होकर अन्यों के लिए कहे गये हैं।

श्रीरंगोजीभट्ट के आत्मज बालकृष्णभट्ट द्वारा विरचित 'शैवोत्कर्षप्रकाश' में 'शैवसंहिता' का उद्धरण देते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि शिवलिङ्ग को धारण करनेवाले वीरशैवोपासक ही शिव को समर्पित नैवेद्य के अधिकारी हैं, अन्य नहीं। उन्हें उपवास इत्यादि नहीं करना चाहिए। शिवनैवेद्य तथा शिवचरणामृत ग्रहण करने से ही

मामनुगृहाणेत्यर्थः। तथा च यजुर्वेदे — "यच्छं च योश्च मनुरायजे पिता तदस्याम तव रुद्र प्रणीतौ" इति। अस्यार्थः – हे रुद्र, तव प्रणीतौ पूजायां पिता जगज्जन्मादिकारणं यः मनुः मन्त्रात्मको भवान्, यत् शं च सुखकरं च, योश्च तत्पृथक्त्वेन निरूपितम् अपक्वादिकं प्रसादम् आयजे सम्पादितवान्। तत् पक्वमपक्वं च प्रसादम् अस्याम तव उपभुक्तप्रसादं भुञ्जीयाम इति।

नन्वेतावता शिवलिङ्गप्रसादग्रहणस्य वैदिकत्वेऽपि कथं पादोदकग्रहणमिति चेन्न, "त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः। ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।" अस्यार्थः — त्रयः पादा यस्य सः त्रिपाच्छिवः, गुरुर्लिङ्गं जङ्गमं च पुरुषः पुरुषपदवाच्यः, 'पुरुषो वै रुद्रः' इति श्रुतेः। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इति कृष्णेन गीतत्वाच्च। ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् एव उत्कृष्टत्वं च तस्मिन् सर्वविष्ण्वादि-नमस्कारपात्रत्वम्। इह लोके उदैद् भक्तोपासनार्थं त्रिधा आविर्भूत इत्यर्थः। अस्य एतत् त्रिविधात्मकशिवस्यैव पादः पादोदकम्। अभि साशनानशनशब्दवैयर्थ्यवारणाय 'वरं हि वाक्यवैयर्थ्यात् पदमात्रस्य साधुता' इति न्यायेन पादस्य पादोदकलाक्षणिकत्वात्। लब्धं यद्यभवत् तदा अशनं अत्तुं योग्यम् अलब्धं स्याद् यदि अनशनं च रुधिरमद्याद्यपेयवत् स्वीकर्तुमयोग्यं भवतीत्यर्थः। पुनःशब्दो विशेषार्थवाची। वैशेष्यं चात्र गुरुजङ्गमान्यतरासान्निध्यम्, तस्मिन् सति ततः विष्वक् समन्ततः व्यक्रामतेत्येवंबुद्ध्या एकपादोदकेऽप्यसन्निहितपादोदकं मनसा अनुसन्धाय स्वीकर्तव्य-मित्यर्थः। क्रियासारेऽष्टाविंशोपदेशे — 'त्रिपादूर्ध्वमुदैन्मन्त्रः अस्मिन्नर्थे प्रवर्तते'

उन्हें मुक्ति मिलती है। जावालश्रुति, स्कन्दपुराण, ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि के वचन इसीका समर्थन करते हैं।

शिव का चरणामृत भी ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'पुरुषसूक्त' का त्रिपाद पुरुष गुरु, लिङ्ग और जङ्गमरूप में रुद्र ही है, जिसका समर्थन 'पुरुषो वै रुद्रः' यह श्रुतिवाक्य और 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' यह 'भगवद्गीता' का वचन भी करते हैं। विष्णु आदि देवताओं के लिए भी वह उत्कृष्ट, वन्दनीय है। अतः गुरु, लिङ्ग और जङ्गमरूप में त्रिपाद (त्रिविध) शिव का पादोदक यदि प्राप्त हो, तो उसे पीना चाहिए, यदि अप्राप्त हो तो वह अपेय है। गुरु एवं जङ्गम लिङ्ग में अन्यतर का पादोदक उपलब्ध होने पर अन्य का मानसिक अनुसन्धान करना चाहिए, क्योंकि वह चतुर्दिक् व्याप्त है। इसी अर्थ का अनुसन्धान 'क्रियासार' भी करता है। 'चरणं पवित्रं विततं पुराणम्' इत्यादि मंत्रों की भी इसी प्रकार व्याख्या की गयी है। इस प्रकार शिव का चरणोदक-ग्रहण वेद-सम्मत है, यह सिद्ध है।

इत्यादिना एतन्मन्त्रस्य गुरुलिङ्गजङ्गमपादोदकग्रहणपरतया व्याख्यातत्वात्, 'चरणं पवित्रं विततं पुराणम्' इत्यादिमन्त्राणामपि तत्परत्वेनैव व्याख्यातत्वात्, पादोदकग्रहणस्य वैदिकार्हत्वं सिद्धम्।

अत्र केचित् — तेन कारणेन त्यक्ते प्रमादादिना लिङ्गत्यागे सति पुनः पुनरसंग्रहे च न भुञ्जीथाः, परं त्वनशनादिना शरीरमेव विसृजेत्। कस्यस्वित् अन्यदीयं धनं लिङ्गं मा गृधः न स्वीकुरुष्व। 'धनं वै लिङ्गमि'ति कौषीतकीश्रुतिरित्याहुः। यत्तु 'ईष्ट इति ईट्' तेन ईशा इत्यनेन ईशितृजगतोः ईशितृ-ईशितव्यभावस्य स्पष्टत्वेऽपि जगन्मिथ्यात्ववादमेव साधयन्ति, अपि च, तेनेति तृतीयान्तस्य तच्छब्दस्य पूर्वानुक्तत्यागपरत्वेन व्याख्यानं कुर्वन्ति, अभ्यवहारार्थक-भुज्धातोः पालनार्थं च प्रतिपादयन्ति, तन्न सम्भवति; ईशित्रोः ईशितव्यसापेक्षत्वात्, तन्मिथ्यात्वे ईशितृत्वस्यैवानुपपन्नत्वात्, तत्त्वे 'ईशावास्यमि'त्यादेरप्रामाणिकत्वापत्तेः, तच्छब्देन सन्निहितपूर्वोक्तेशपदार्थस्य ग्रहीतुं युक्तत्वात्, भुज्धातोः पालनार्थे 'भुञ्जीथाः' इत्येतद्रूपस्याऽसङ्गतत्वात्, गत्यन्तराभावे च व्याकरणविरुद्धप्रयोगस्य छान्द-सत्वादिंकल्पनं युज्यते। प्रकृते च शिवलिङ्गभुक्तशेषप्रसादाभ्यवहारार्थस्यौचित्ये पालनार्थस्यात्यन्तायुक्तत्वाच्च ।।१।।

कुछ लोग इस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान करते हैं। उनके अनुसार जो कुछ है, 'ईश' (शिव) है, जगत् मिथ्या है। अतः किसी कारण से प्रमादादिवश अपने शरीर से शिवलिङ्ग का परित्याग हो, तो वीरशैवों को अनशनादि से शरीर-परित्याग करना चाहिए। दूसरे के 'धन' (लिङ्ग) को स्वीकार नहीं करना चाहिए। वे इस मन्त्र का पदच्छेद इस प्रकार करते हैं — 'तेन त्यक्ते न भुञ्जीथाः।' 'धनं वै लिङ्गम्' इस कौषीतकी श्रुति के वचन को उद्धृत कर 'धन' का अर्थ 'लिङ्ग' करते हैं। और 'भुज्' धातु का अर्थ भोजन न करते हुए पालन अर्थ में उसे लेते हैं। परन्तु यह सब व्याख्यान युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि 'ईश' और 'जगत्' दोनों में 'ईशितृ-ईशितव्यभाव' है। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, दोनों का अविनाभावसम्बन्ध है। यदि हम जगत् को मिथ्या मानते हैं, तो 'ईश' का ईशितृत्व असङ्गत होगा। 'तेन' सर्वनाम का निर्देश प्रथमचरण में निर्दिष्ट 'ईशा' पद से ही सङ्गत बैठता है। प्रकृत में शिवलिङ्ग के भुक्तशेष प्रसाद का 'अभ्यवहार' ही हो सकता है, 'पालन' नहीं। अतः 'भुज्' धातु का अर्थ भोजन करना ही ठीक है, पालन नहीं। उसी प्रकार 'धन' का अर्थ 'प्रसाद' करना ही उचित है।।१।।

ननु 'प्रसादस्यैव मुक्तिमूलत्वात् पतिधर्मा' इत्यादिवाक्योक्तपादोदकनिषेवण-लिङ्गार्चनभस्मरुद्राक्षधारणदहरोपासनलिङ्गाङ्गसामरस्यबोधकमन्त्रजपादीनां पतिधर्माणां प्रत्यहमनुष्ठाने किं फलम्? इत्यत आह —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

कुर्वन्निति। इह कर्मभूमौ कर्माणि मोक्षहेतुभूतानि वेदागमोदितानि लिङ्गधारण-लिङ्गार्चनार्पणार्पितग्रहणमन्त्रजपादीन्यत्याश्रमकर्माणि कुर्वन् समाचरन्नेव शतं समाः शतसंवत्सरान् 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यनेन पुरुषस्य शतायुःपरिमितत्वात् 'शतं समा' इत्युक्तम्, अर्थाद् यावदायुस्तावत्पतिकर्माचरन्नेव भवान् जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत्, अन्यथा तव पातित्यमेव स्यात्। उक्तं च सूतसंहितायाम् — "वेदसिद्धं महादेवं साम्बं चन्द्रार्धशेखरम्। लिङ्गे दिने दिने देवं शिवरुद्रादिसंज्ञितम्।। नार्चयिष्यन्ति मोहेन पाखण्डोपहताशिना।।" इति। शिवलिङ्गपूजादीनां नित्यविधित्वं च 'तव श्रिये मरुतोऽर्चयन्तः', 'त्रियम्बकं यजामहे' इति ऋग्यजुःश्रुतिभ्यां सिद्ध्यति, तदकरणे प्रत्यवायश्च ऋग्वेदे श्रूयते — 'अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया गृभ्णन्ति जिह्वया समम्' इत्यत्रोपबृंहणवाक्यानि पाराशरपुराणे श्रूयन्ते। "अन्तरिच्छन्ति ये रुद्रं सदा वन्द्यं मनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया तेऽन्नं रसपूर्णामृतोदकम्।।

पूर्वमन्त्र में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' अर्थात् 'शिव के भुक्तशेष प्रसाद का उपभोग करो' इस प्रकार श्रुति जीव को उपदेश देती है, इस मन्त्र में आजीवन कर्म करने का आदेश दिया गया है। जो 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' स्वरूप मोक्ष की कामना करते हैं, उन वीरशैवों के लिए आजीवन कर्मानुष्ठान करना चाहिए। शैवागमों की दृष्टि में कुछ 'पतिधर्म' होते हैं और कुछ 'पशुधर्म'। अष्टावरण एवं पञ्चाचार 'पतिधर्म' तथा अग्निहोत्रादि कर्म 'पशुधर्म' माने गये हैं। गुरु भावलिङ्ग, इष्टलिङ्ग और जङ्गम प्राणलिङ्ग इन तीन प्रकार के शिवलिङ्गों को धारण करना, शिव का चरणोदक ग्रहण करना, शुद्ध, सिद्ध एवं प्रसिद्ध तीन प्रकार के प्रसाद को ग्रहण करना, भस्मधारण, रुद्राक्षधारण और मन्त्रजप अष्टावरण के अन्तर्गत आते हैं। इनका तथा पञ्चाचारों के अनुष्ठान 'पतिधर्म' के अन्तर्गत हैं, जिन्हें वीरशैवों को आजीवन (आयुष्यभर) करना चाहिए।

श्रुति उपदेश देती है — कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। इस कर्मभूमि में वेदागमसम्मत मोक्ष के हेतु उक्त पतिकर्म करते हुए जीव को सौ वर्ष तक, अर्थात्

अन्तर्नेच्छन्ति ये रुद्रं भवानीसहितं शिवम्। पुरीषमेव गृभ्णन्ति जिह्वया ते न संशयः।।'' इति।

ननु 'अन्तरिच्छन्ती'त्यत्र मानसक्रियामात्रदर्शनात् कथं बाह्यपूजापरत्वमिति चेन्न; 'यद्धि मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोती'ति, 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' इत्यादिना मनोवाक्कायकर्मभिः शिवपूजोपदेशात्। ''यावज्जीवमिदं लिङ्गं शरीरान्न वियोजय। नित्यं स्ववामहस्ताग्रे सावधानेन पूजयेत्।।'' इति तत्पूजाया यावज्जीवभावित्वात्। न त्वेकेनैव प्रसादग्रहणेन मुक्तिसम्भवः, तस्य तत्पूजाध्यानधारणसापेक्षत्वात्, सर्वेषां पतिधर्माणां चान्योन्य-सम्बन्धित्वाच्च, एकैकानुष्ठानस्य तैरप्यशक्यत्वात्। तस्मान्मोक्षहेतुभूतपतिधर्माणां प्रति नित्यमनुष्ठेयत्वं सिद्धम्, क्रियाज्ञानात्मकदीक्षाङ्गत्वात्, सर्वेषां पतिधर्माणां विभूतिरुद्राक्षधारणादीनामङ्गाननुष्ठानेऽप्यसम्भवात्। तदसम्भवे पुरुषार्थसिद्धिरेव न स्यात्। तस्मात् साङ्गदीक्षाया एव मोक्षकारणत्वं वाच्यम्। एवं च कारणतावच्छेदका-ननुगमस्याप्यसत्त्वाच्च।

या या क्रिया विधातव्या प्रस्तुता जायते पुरा ।
तां तां क्रियां महादेवसमर्पणधिया सुधीः ।।

इत्युक्तप्रकारेण स्वकृतसर्वकर्माणि स्वस्य निर्लेपत्वाय शिवलिङ्गार्पितानि कर्तव्यानीत्याह 'एवं त्वयी'ति। एवमाचरितंधर्मार्पणं कुर्वति, नरे नरदेहवति त्वयि कर्म न लिप्यते, कर्मफललेपो न भवति; किन्तु तव मुक्तिरेव भविष्यतीत्यर्थः। इतः स्वाचरित-

---

जब तक उसकी आयु है, तब तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए, अन्यथा वह पतित-कोटि में आयेगा। सूतसंहिता, ऋग्वेद, यजुर्वेद, पाराशरपुराण आदि धर्मग्रन्थ इसी मत का समर्थन करते हैं। यदि इनका आचरण न किया जाय, तो विघ्न उपस्थित हो सकते हैं।

यद्यपि ऋग्वेद के मंत्र तथा पाराशर पुराण के उपबृंहण-वाक्य 'अन्तरिच्छन्ति' इत्यादि मानसपूजापरक हैं, तथापि मानसिक, कायिक और वाचिक त्रिविध रूप में आजीवन शिवपूजा का उपदेश दिया गया है। 'वीरशैव-समुपासकों को आजीवन शिवलिङ्ग धारण करना चाहिए, देहपातपर्यन्त उसे शरीर से पृथक् नहीं करना चाहिए और अपने वामहस्त पर स्थापित कर प्रतिदिन सावधान चित्त से उसका पूजन करना चाहिए। केवल प्रसादग्रहण से मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि वह शिवपूजा, शिव का ध्यान

कर्मार्पणादन्यथा प्रकारान्तरेण न कर्म फललेपाभावो न स्यादित्यर्थः। उक्तं चानुभवसूत्रे—'लिङ्गार्पितोपभोगेन निर्लेपोऽयं न संशयः' इति। अयमत्राशयः—लिङ्गतन्मुखतदर्पणतदर्पणीयवस्तूनि सम्यग् ज्ञात्वा तत्तल्लिङ्गे को वार्पित इति च तत्करादि च ज्ञात्वा शिवलिङ्गे तत्तत्कर्मादिकमर्पयितव्यम्। अन्यथा कर्मफललिप्तत्वमेव स्यात्।

यथा सर्पिषा लिप्तत्वं पाणेः, तज्ज्ञस्य तु सर्पिषा रसनाया इवालिप्तत्वमेव स्यात्। उक्तं च —

यथा कालिकया दृष्ट्वा सम्पृक्तापि न लिप्यते ।
पक्ष्मणोरन्तरा तारा तथा सम्यक् शिवात्मवित् ।।

गुरूपदेशलब्धतज्ज्ञानवानेव कर्मफलेन न लिप्यते। उपदेशरहितस्तु शास्त्रकोटिपारङ्गतोऽपि कर्मफललिप्त एव स्यादित्यर्थः। प्रपञ्चविलयकारणीभूत-षड्भक्तिमेव प्राधान्येनावलम्ब्य तत्तत् कर्म कुर्वतः पुरुषस्य कर्माणि तप्तायोघनपतित-जलबिन्दव इवाकृतितयाऽपि नष्टान्येव स्युः। ज्ञानमेवावलम्ब्य स्थितेन पुरुषेणाचरितानि कर्माणि सरोरुहदलपतितजलबिन्दव इवाकारतया स्थितान्यपि निष्कामेन तदनुष्ठानवतः स्वफललेपं न कुर्वन्ति। सकामकर्म कुर्वतः शुक्तिपतितजलबिन्दव इव साफल्यमेव स्यात्। तस्मात् भाक्तिकमार्ग एव उत्कृष्टतर इति वक्तुं शक्यते। यत्तु आत्मग्रहणा-

---

और धारणासापेक्ष है। सभी पतिधर्म अन्योन्याश्रित हैं। एक-एक का अनुष्ठान असम्भव है। अतः वीरशैवों को प्रतिदिन आजीवन पतिकर्मानुष्ठान करना चाहिए। सभी पतिकर्म क्रियात्मक तथा ज्ञानात्मक दीक्षा के अङ्ग होने के कारण उनका सम्पादन न करने पर पुरुषार्थसिद्धि सम्भव नहीं है। अतः इनका आजीवन अनुष्ठान शिव-समर्पण-बुद्धि से करना चाहिए, जिससे मानव-योनि प्राप्त करनेवाला जीव कर्मफल के लेप से लिप्त न हो, अपितु मुक्ति प्राप्त कर सके।

यदि घी हाथ में लिया जाय, तो जिह्वा उससे अलिप्त ही रहेगी, यदि पलकों के बीच अंजन लगाया जाय, तो आँख की पुतली उससे अलिप्त रहेगी, उसी प्रकार गुरूपदेश से लिङ्गाङ्गसामरस्य के तत्त्व को जाननेवाला वीरशैव कर्मफल से लिप्त नहीं होगा। कोटि-कोटि-शास्त्रों में पारंगत होने पर भी अदीक्षित कर्मबन्धन में पड़ जायगा। अतः जीव को षड्विधा भक्ति का आश्रय लेकर कर्म करने चाहिए, जिससे जीव के कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जायेंगे, जिस प्रकार गरम लोहे के पात्र में गिरे हुए जलबिन्दु। उनकी आकृति भी दृष्टिगोचर नहीं होगी। जो जीव ज्ञान का अवलम्बन कर कर्मानुष्ठान करता है, उसके

याऽशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्र इत्युच्यते, तत्तुच्छम्, परमात्मस्वरूपग्रहणं विना तदर्चनादिकर्माऽसम्भवात्। नहि सार्वभौमस्वरूपज्ञानमन्तरा तत्स्वरूपगुणवर्णन-तदादरसत्कारादिकं कर्तुं शक्यते। अत एवोक्तं श्रीमन्निजगुणशिवयोगिना तज्ज्ञानमन्तरा तदर्चनादिकं न सम्भवतीति।।२।।

अथेदानीं समरसभक्त्यादिविमुखज्ञानैकनिष्ठनिन्दार्थोऽयं प्रवर्तते –

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३।।

असुर्या इति। सुष्ठु रमन्ते समरसभक्त्यपरपर्यायलिङ्गाङ्गसामरस्यविद्यायां ये शैवाः ते सुराः, वीरशैवा इत्यर्थः। उक्तं च क्रियासारे "वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिनी। तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवाः प्रकीर्तिताः।।" इति। तेभ्यो सुरेभ्यो भिन्ना असुराः, तेषां योग्या असुर्याः। लोकाः कर्मफलानि जन्मानि, स्थानानि वा ये वर्तन्ते, अन्धेन अदर्शनात्मकेन तमसा 'अज्ञानं बन्धः' इति शिवसूत्रोक्तेन

कर्म उससे उतने ही पृथक् रहेंगे, जिस प्रकार कमलदल पर अवस्थित जलबिन्दु। सकामोपासकों का कर्मानुष्ठान उसी प्रकार सफल होता है, जिस प्रकार सीप में पड़े जलबिन्दु मोती बन जाते हैं। अतः ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है, यह सिद्ध होता है। परमात्म-साक्षात्कार में असमर्थ के लिए यह मंत्रोपदेश है, यह विचार तुच्छ है। परमात्मा के सार्वभौम स्वरूप को जाने बिना उसकी अर्चना, स्तुति इत्यादि असंभव है। श्रीनिजगुणशिवयोगी भी यही प्रतिपादित करते हैं ।।२।।

जो 'आत्मघाती' होते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त 'असुर्यलोक' प्राप्त करते हैं। महेश्वर-धर्म को न माननेवाले तथा जीव-ईश्वर की एकता को स्वीकार न करनेवाले 'आत्मघाती' होते हैं।

'आत्मघात' की स्थिति में वे सभी जन 'असुर्यलोक' प्राप्त करते हैं, जो गाढ अन्धकार से घिरा हुआ है। जो 'सुर' नहीं होते, वे 'असुर्यलोक' प्राप्त करते हैं। जो शैव 'समरसभक्ति' अथवा 'लिङ्गाङ्गसामरस्यविद्या' में रमण करते हैं, वे 'सुर' अर्थात् 'वीरशैव' कहलाते हैं। 'क्रियासार' के अनुसार 'शिव' (ईश्वर) और 'जीव' की एकता-अभिन्नता प्रतिपादित करनेवाली विद्या 'वी' नाम से जानी जाती है। (यही समरसभक्ति अथवा 'लिङ्गाङ्गसामरस्यविद्या' है।) उसमें रमण करनेवाले शैव 'सुर' अथवा 'वीरशैव' कहलाते हैं, जो महेश्वर के षड्विध धर्म को स्वीकार करते हैं। इनसे भिन्न आचरण करनेवाले पूर्वोक्त 'आत्मघाती' जन 'असुर' कहलाते हैं। उनके योग्य 'असुर्यलोक' होते

अज्ञानात्मकेन अन्धकारेण आवृता:। तिरोहितस्वस्वरूपसर्वज्ञत्वादिषडङ्गा: सन्त:। उक्तं च वीरागमे —

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध: स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्ति: ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा: षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।। इति।

तान् पूर्वोक्ततिर्यगादिजन्मनरकस्थानान्यतरान् प्रेत्य मरणं प्राप्य अर्थात् प्रथमतस्तत्रोत्पद्य मरणानन्तरमपि पुनरभिगच्छन्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थ:। ते के इत्याकाङ्क्षायां तानाह — 'ये के चात्महनो जना' इति। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महन:। आत्मानम् उक्तसर्वज्ञत्वादिषडङ्गं निरङ्गं ये मन्यन्ते, ते आत्मतिरस्कारिण आत्मघातिन एव जना:।

यथा गुरूणामवज्ञाकारी गुरुघातीत्युच्यते; यथा वा प्रबलशक्तिकस्य निश्शक्तिकत्वारोपणे प्रबलशक्तिघातीत्युच्यते आरोपक:, तथा स्वरूपत: सर्वज्ञं सर्वकर्तारमनादिबोधमलुप्तानन्तशक्तिमप्यात्मानं किञ्चिदप्यज्ञमकर्तारं निश्शक्तिकं निर्विशेषं मन्यन्ते ये, ते आत्मघातिन इत्यर्थ:। किं च 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे', 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इति श्रुतिसूत्राभ्यां जीवेश्वरसामानाधिकरण्यस्य निर्णीतत्वात्। विवर्तवाद्यभ्युपगमश्चेत्थम् — 'मायाऽऽविद्याप्रतिबिम्बरूपौ ईश्वरजीवौ

हैं, जो उन्हें प्राप्त होते हैं। महेश्वर की सर्वज्ञता आदि शक्तियों को न स्वीकार करना उनका गाढ अज्ञान है, जो गहरे अन्धेरे से कम नहीं और बन्धनस्वरूप होता है।

महेश्वर की भक्ति षड्विधा होती है, क्योंकि महेश्वर-धर्म षड्विध है। 'वीरागम' के अनुसार महेश्वर (परम-शिव, परमात्मा) के छ: अङ्ग हैं — (१) सर्वज्ञता, (२) तृप्ति, (३) अनादिबोध, (४) स्वतन्त्रता, (५) कभी भी क्षीण न होनेवाली अक्षयशक्ति तथा (६) अनन्त असीमित शक्ति। जीव और ईश्वर एक हैं, एक-दूसरे से अभिन्न हैं। उन दोनों का सामानाधिकरण्य है। इस वस्तुस्थिति को जो स्वीकार नहीं करते, वे 'आत्मघाती' होते हैं। अत: जन्म-मरण के चक्र में पड़कर वे पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष आदि योनियों में कर्मफलस्वरूप अनन्त काल तक पड़े रहते हैं अथवा उन लोकों (स्थानों) में पड़े रहते हैं, जहाँ गहरा अन्धेरा छाया रहता है। उनके योग्य ये ही 'असुर्यलोक' होते हैं।

जिस प्रकार गुरु की अवज्ञा करनेवाला 'गुरुघाती' कहलाता है, अथवा जिस प्रकार प्रबलशक्तिसम्पन्न को दुर्बल समझकर उसकी अवहेलना करनेवाला 'प्रबलशक्तिघाती' कहलाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त वस्तुस्थिति को स्वीकार न करनेवाला 'आत्मघाती' होता है।

मायाविद्यारूपोपाधिनाशश्च यो मोक्षः' इति। तथा चोक्तं श्रुतिसूत्राभ्यां जीवेश्वरयोरात्मशब्दवाच्यत्वात्। तथावादिन आत्मघातिन एव। एतादृशात्मघातरूपमोक्षोऽपि नैव युज्यते। कुतः खलु तदङ्गीकारे जीवेश्वरनाश एव मोक्ष इति सम्पद्यते, तन्नाशस्वीकारे पाखण्डबौद्धमतप्रवेशः स्यात्।

'आत्महननमपुरुषार्थः' इत्यनेन मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वमापद्येत। 'स आत्मा' इत्यन्तेन तत्त्वं पदार्थं निरूप्य 'न तत्त्वमसी'त्येव वदेत्। दर्पणप्रतिफलितवह्न्यादिवद् अर्थक्रियाकारित्वं न सम्भवेत्। तस्मात् तेऽपि भक्तिमार्गमवलम्ब्य मुक्ता भवेयुरित्यस्माकमाशयः। अत एवोक्तं क्रियासारे "अनेकजन्मशुद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम्। नराणां क्षीणपापानां शिवे भक्तिः प्रजायते।।" किं च तत्रैव — "चतुर्वेदधरो विप्रः शिवभक्तिविवर्जितः। वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः।।" उक्तं चानुभवसूत्रे — "भक्तिरेव परमार्थदायिनी भक्तिरेव परतत्त्ववेदिनी। भक्तिरेव भवदोषहारिणी भक्तिरेव शिवभावकारिणी।।" इति।।३।।

विवर्तवादियों की दृष्टि में ईश्वर और जीव क्रमशः माया और अविद्या के प्रतिबिम्बरूप हैं। माया और अविद्या उनकी उपाधियाँ हैं। इन उपाधियों का नाश ही मोक्ष है। यह सिद्धान्त स्वीकार करने पर ईश्वर का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायगा और बौद्धों की विजय होगी।

'स आत्मा', 'तत् त्वम्' इस प्रकार निरूपण करने पर यदि 'जीवेश्वर-नाश' लक्षण 'मोक्ष'स्वरूप स्थिर किया जाय, तो 'न तत् त्वम् असि' इस प्रकार अपने ही सिद्धान्त का खण्डन करना पड़ेगा। आत्महनन को पुरुषार्थ से भिन्न मानने पर मोक्ष भी पुरुषार्थ की कोटि में नहीं आयेगा। दर्पण पर प्रतिफलित अग्नि जिस प्रकार क्रियाकारी नहीं होता, उसी प्रकार इसकी अर्थक्रियाकारिता भी सम्भव नहीं होगी। श्रौत-स्मार्तकर्मानुष्ठाताओं के चित्त में जन्म-जन्मान्तर में पापक्षय होने पर षड्विध माहेश्वरधर्मसम्पन्न शिवभक्ति का अभ्युदय होता है। 'क्रियासार' में उस चतुर्वेदी ब्राह्मण की निन्दा की गयी है, जो शिवभक्ति से वर्जित होता है। उसे वेदभार को वहन करनेवाला 'ब्राह्मण-गर्दभ' तक कहा गया है। सर्वज्ञत्वादिसम्पन्न महेश्वर (परमशिव, परमात्मा) को अल्पज्ञत्वादिसम्पन्न समझना गाढ अज्ञानान्धकार का ही तो परिचायक है। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार एकमात्र भक्ति ही वह शक्ति है, जो परम पुरुषार्थ को प्रदान करती है, परमतत्त्व का साक्षात्कार कराती है, सांसारिक दोषों को दूर करती है और जीव को 'शिवसमरसभाव'रूप 'मोक्ष' प्रदान करती है। अतः ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है, यह सिद्ध है ।।३।।

'उपासनैव संयोगः संयोगोऽद्वैतसल्लयः' इत्युक्तरीत्या लिङ्गाङ्गसंयोगज्ञानाद्वैत-भक्त्यपरपर्यायोपासनाविषयाकाङ्क्षायां ध्येयलिङ्गस्वरूपं प्रतिपाद्यते —

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

अनेजदिति। अनेजत्, 'एजृ कम्पने।' न एजदित्यनेजत्, अकम्पमानमचलन्महा-लिङ्गमित्यर्थः। तदेकं समाधिकशून्यम्; 'न तत्समः स्यादधिकश्च दृश्यते' इति श्रुतेः। 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत्परित्यज्य'; मनसः सङ्कल्पविकल्पात्मकाद् जवीयो वेगवत्तरम्, एनद् महालिङ्गं देवा ब्रह्मविष्ण्वाद्याः, न आप्नुवन् साकल्येन न प्राप्तवन्तः, पूर्वं कारणकारणं महालिङ्गम्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः। अर्षत् 'ऋष् गतौ', अर्षतीत्यर्षत् चित्स्वरूपम्, 'ये च गत्यर्थकास्ते च ज्ञानार्थकाः' इति प्रसिद्धेः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतेः। तद् महालिङ्गं तिष्ठतीति तिष्ठत् स्वस्थाने स्थितमपि सर्वपरिपूर्णत्वाद् धावतः द्रुतं गच्छतः। अन्यान् मनो वाय्वादीन् अत्येति अतिक्रम्य तिष्ठति; सर्वशक्तिकत्वादित्यर्थः, 'ब्रह्मैवं सर्वशक्तिकम्' इति पौष्करवचनात्।

एतावता सच्चिदानन्दात्मकमहालिङ्गस्य सर्वव्यापकत्वमुक्त्वा तन्महालिङ्गं भक्तोपासनार्थं घृतकाठिन्यन्यायेन हृदयपुण्डरीकादौ परिच्छिन्नस्वरूपमपि धृत्वा

इस मन्त्र के द्वारा परशिवलिङ्ग का परिच्छिन्न एवं अपरिच्छिन्न पारमार्थिक स्वरूप निरूपित किया गया है। यह महालिङ्गस्वरूप परशिव अकम्पमान, निश्चल है। न तो समप्रमाण है और न अधिकप्रमाण। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिवचन के अनुसार सृष्टि का आदिकारणस्वरूप और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवचन के अनुसार चिन्मय, ज्ञानस्वरूप है। सङ्कल्पविकल्पात्मक मन के वेग से भी वेगवान् है, ब्रह्मा, विष्णु आदि देव भी इसके सम्पूर्ण स्वरूप को जान न सके। कम्परहित, निश्चल और अपने स्थान पर अवस्थित होने पर भी 'ब्रह्मैवं सर्वशक्तिकम्' इस पौष्करवचन के अनुसार मन, वायु आदि की शक्ति से भी बढ़-चढ़कर है। इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप यह महालिङ्ग सर्वव्यापक है।

इसका परिच्छिन्नस्वरूप भी है। ' घृतकाठिन्य ' न्याय से सकल निष्कल प्राणलिङ्ग सभी के हृदय में विराजमान रहने के कारण परिच्छिन्न है। 'भगवद्गीता' के अनुसार

सर्वप्राणिकर्मप्रेरकं भवतीत्याह — तस्मिन् महालिङ्गे सति मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा, अर्थाद् हृदयाकाशं गतं सकलनिष्कलप्राणलिङ्गं सर्वान्तर्यामीश्वर इति यावत्। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।" (१८.६१) इति कृष्णगीतावचनात्, "ततोऽव्ययात्मा स हरिः स्वहत्पङ्कजशायिनम्। दर्शयामास देवानां मुरारिर्लिङ्गमैश्वरम्।।" इति वामनपुराणवचनात्। अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टारूपाणि दधाति धारयति। अर्थात् सर्वप्राणिहृदयान्तर्वर्ती स ईश्वरः सर्वप्राणिकर्मप्रेरको भवतीत्यर्थः।

अत्र केचित् 'देवाश्चक्षुरादीन्द्रियाणी'ति वदन्ति। इदं तावत्तन्मान्द्यम्। चक्षुराद्यन्तरङ्गमानसागम्यत्वमुक्ते सुतरां तद्बहिरङ्गबाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वमुक्तं भवतीति। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः' इति श्रुतेः, 'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेन ततः प्रत्यक्षम्' इति नैयायिकनियमाच्च किमर्थं देवपदस्य प्रसिद्धार्थपरित्याग इति। अनेन मन्त्रेण परशिवलिङ्गस्य परिच्छिन्नापरिच्छिन्नस्वरूपं पारमार्थिकमुक्तमित्यनुसन्धेयम् ।।४।।

यह सर्वान्तर्यामी ईश्वर सभी प्राणियों को कर्म की प्रेरणा देता है। 'वामनपुराण' के अनुसार अव्ययात्मा श्रीहरि ने देवताओं को अपने हृदयकमल में अवस्थित महालिङ्गस्वरूप परशिव का दर्शन कराया।

इस मंत्र में 'देवाः' का अर्थ चक्षुरादि इन्द्रिय करना मन्दमति का परिचायक है। यदि चक्षुरादि इन्द्रियों को अन्तरङ्ग मन से अग्राह्य कहा जाय, तो मन को बहिरङ्ग बाह्येन्द्रियों से अग्राह्य मानना पड़ेगा। जब कि श्रुति कहती है — 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।' इन्द्रियों से परे अर्थ हैं और अर्थ से परे मन। प्रत्यक्षज्ञान के सन्दर्भ में नैयायिक-नियम यह है — 'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षम्'। प्रत्यक्षज्ञान तभी होता है, जब आत्मा का मन से, मन का तत्-तत् इन्द्रिय से और इन्द्रिय का उस-उस विषय से संयोग होता है। साथ ही देवपद का प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ को स्वीकार क्यों किया जाय? ।।४।।

स्वरूपज्ञानदार्ढ्यार्थं सकृदुक्तं न चित्तमारोहतीति वा स्वरूपमेव प्रतिपादयति —

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

तदेजतीति। तद् उक्तमहालिङ्गम्, एजति चलति मन आदीनामप्राप्यत्वात्, तेषां चलतामग्र एव चलतीत्यर्थः। तदेव नैजति च स्वतः स्थूलक्रियारहितत्वान्नैव चलति। तन्महालिङ्गं दूरे अभक्तानां वर्षकोटिशतैरप्यप्राप्यत्वाद् दूर एव तिष्ठति। 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि', 'ध्याननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डितः' इति श्रुतेश्च। 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम्', 'तं ध्यात्वा मृत्युमतीत्य नान्यः पन्था विमुक्तये' इति श्रुतेः। तदु महालिङ्गमेव अन्तिके भक्तानां समीप एव तिष्ठति, षडङ्गाश्रितभक्तियुक्तस्य तत्सामरस्यापन्नत्वात्। तद् महालिङ्गम् अस्य घटाद्युपलक्षितस्य सर्वस्य जगतः, अन्तः 'अयमात्मा सर्वान्तरः' इति श्रुतेः। अन्तर्यामित्वेन स्थितमित्यर्थः। तदु तन्महालिङ्गमेव सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य बाह्यतः बहिःप्रदेशे वर्तते, 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इति श्रुतेः। अनेनापि मन्त्रेण जगज्जन्मादिकारणीभूतमहालिङ्गस्याऽपरिच्छिन्नस्य भक्तानुग्रहार्थं परिच्छिन्नस्वरूपमपि पारमार्थिकं दर्शितमिति ज्ञेयम्।

मन में उसको बैठाने के लिए श्रुति पुनः परमशिवस्वरूप का प्रतिपादन करती है — वह महालिङ्ग मन आदि से अप्राप्य होने के कारण सबसे तेज दौड़ता है। उसकी स्थूलक्रिया न होने के कारण गतिशील होने पर भी निश्चल, स्थिर है। शिवभक्ति से वर्जित लोगों को कोटि-कोटि वर्षों में भी न मिलने के कारण उनके लिए दूर अवस्थित है। श्रद्धा, भक्ति एवं ध्यानयोग से उससे सामरस्य स्थापित करने के कारण षडङ्गाश्रित महेश्वर भक्तों के समीप ही रहता है। वह महालिङ्ग अन्तर्यामी के रूप में घटादि-उपलक्षित चराचर जगत् के अन्तर में विराजमान है। 'अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इस श्रुतिवचन के अनुसार सभी प्रपञ्च के बाह्य प्रदेश में भी अवस्थित है। इस प्रकार इस मंत्र के द्वारा अपरिच्छिन्न महालिङ्ग का परिच्छिन्नस्वरूप भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए निरूपित है।

कुछ लोग 'भक्ति-वर्जित लोगों के समान ज्ञान-वर्जित लोगों के लिए परम-शिवस्वरूप का ज्ञान कोटि-कोटि वर्षों तक नहीं हो सकता, अतः वह दूर अवस्थित

केचित्तु 'तद्दूरे' इत्यस्य वर्षकोटिशतैरप्यविदुषाम् अप्राप्यत्वात् 'दूर एवे'त्याद्याहुः। अत्र किञ्चिद्विचार्यते। तेषामयमाशयः — 'रज्जुरयम्, नायं सर्प' इति वाक्यजन्यज्ञानाद् भयकम्पादिनिवृत्तिरिव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिसिद्धवस्तु-प्रतिपादकवाक्यजन्यस्वस्वरूपज्ञानाद् अनर्थनिवृत्तिब्रह्मानन्दप्राप्तिरूपमोक्ष एव भवति, 'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिश्रुतेः, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इति स्मृतेश्च पूर्वोक्तकैवल्यादिवाक्येभ्यश्च अद्वैतभक्त्यपरपर्याय-ध्यानरूपोपासनैव मुक्तिकारणमिति ज्ञायते। 'तमेवे'त्यादिवाक्यात् स्वरूपज्ञानमेव मुक्तिकारणमिति निश्चीयते।

अत्र कोऽयं मार्गोऽनुसरणीयो मुमुक्षुभिः, उभयान्यतरस्वीकारे अन्यतरस्याऽप्रामा-ण्यापत्तेः। परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वाद् उभयस्याप्यप्रामाण्यं स्यात्। तस्याश्च श्रुतिसङ्कोचे लक्षणादिस्वीकारे च मानाभावः। तस्मादुभयोरपि वाक्ययोः प्रामाण्यरक्षणार्थं वैदिकंमन्यमानेन उभयोरपि सार्थक्यं वक्तव्यम्। एतत्सार्थक्यञ्च ज्ञानकर्मसमुच्चयं विना नैव सङ्घटते। तस्मादेकेनैव ज्ञानमार्गेण मुक्त्यलभ्यत्वं ज्ञेयम्। एतदेव 'विद्यां चाविद्यां चे'ति मन्त्रव्याख्यायां वक्ष्यामः ।।५।।

है' इत्यादि व्याख्यान करते हैं। उनका आशय यह है कि रस्सी में साँप की भ्रान्ति तभी दूर होगी, जब कोई कहेगा — 'यह रस्सी है, साँप नहीं'। फलस्वरूप उसका भय से काँपना दूर होगा। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य से जब चिन्मय सत्यस्वरूप अनन्त ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब अनर्थनिवृत्ति होने से ब्रह्मानन्द-प्राप्ति होती है और यही मोक्ष का लक्षण है। 'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि कैवल्यप्रतिपादक श्रुति-स्मृति-वाक्यों से अद्वैतभक्ति अथवा ध्यानरूपोपासना तथा परमशिव का स्वरूपज्ञान मुक्ति का कारण होता है, यह निश्चित है।

केवल ज्ञानमार्ग अथवा केवल कर्ममार्ग से मुक्ति सम्भव नहीं है, अतः ज्ञान-कर्मसमुच्चय का अवलम्बन किये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। 'विद्यां चाऽविद्यां च' इस मंत्र-व्याख्यान में इसका विस्तार से वर्णन किया जायगा ।।५।।

"लिङ्गमध्ये जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्। लिङ्गबाह्यात् परं नास्ति तस्मालिङ्गं प्रपूजयेत्।।" इत्युक्तप्रकारेण लिङ्गोपासनाप्रकारमाह —

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते ।।६।।

यस्त्विति। यस्तु सर्वात्मकशिवोऽहम्भावापन्नो भक्तः, 'तु' शब्दः लिङ्गबाह्यपरदृष्टि-निवारणार्थः। सर्वाणि भूतानि शिवादिभूम्यन्तानि आत्मन्येव परमात्मनि लिङ्ग एव, अनु शिक्षागुरूपदेशानन्तरं, पश्यति अवलोकयति न तु परशिवलिङ्गातिरिक्तं

जो शिवभक्त शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त [1]छत्तीस तत्त्वों का साक्षात्कार गुरु से प्राप्त दीक्षा के अनन्तर लिङ्गस्वरूप परमशिव में ही करता है तथा उन समस्त छत्तीस तत्त्वों में परमशिव का साक्षात्कार करता है, वह जीव अभेदोपासना में दृढता आने के

---

१. छत्तीस तत्त्व—सृष्टि के पूर्व स्थावर-जंगमात्मक प्रपंच का अव्यक्त सूक्ष्म स्वरूप 'तत्त्व' कहलाता है। यही परम-शिवतत्त्व है, जो प्रलयकाल तक विद्यमान रहता है, जो प्राणियों को सुखदु:खादि का अनुभव कराता है। घट, पट, शरीर, इन्द्रिय आदि उसके कार्य हैं, तत्त्व नहीं। जैसा कि वचन है—"आप्रलयं यत् तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम्। तत् तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादितत्त्वमतः।।" 'परशुराम कल्पसूत्र' छत्तीस तत्त्वों को शिवतत्त्व के रूप में देखता है — 'षट्त्रिंशत्तत्त्वानि शिवः'। इनका विवरण इस प्रकार है — (१) शिव–सृष्टि के पूर्व का अव्यक्त सूक्ष्मस्वरूप, (२) शक्ति–उसकी इच्छाज्ञानक्रियामयी स्पन्दनशक्ति, (३) सदाशिव–शक्तितत्त्व से आविर्भूत समष्टिरूप अहंता, (४) ईश्वर–अहंता से जन्म-विश्वस्फुरण, (५) विद्या–ईश्वर के स्थान पर 'मैं विश्वस्वरूप हूँ', इस प्रकार की आविर्भूतवृत्ति, (६) माया–विद्या से स्फुरित विश्व के पार्थक्य का भान, (७) अविद्या–विद्या का प्रतिबन्धक, शिव को जीवभाव प्राप्त करानेवाला तत्त्व, (८) कला–अल्पज्ञत्व का बोधक तत्त्व, (९) राग–अतृप्तिमूलक वासना, (१०) काल–लव से ब्रह्मदेव के एक अहोरात्र तक का मानक तत्त्व, (११) नियति–जीव की पारतंत्र्यशक्ति, (१२) जीव (पुरुष)–नियति से अविद्या तक पंचतत्त्वों से बँधा शिव, (१३) प्रकृति (चित्त)–सत्त्व, रज और तमोगुण साम्यावस्था, (१४) मन–संकल्प-विकल्पात्मक रजोगुणप्रधान तत्त्व, (१५) बुद्धि–मन:स्पन्दन के साथ सात्त्विकताप्रधान तत्त्व, (१६) अहंकार–तमोगुणप्रधान बुद्धितत्त्व, (१७-२१) पाँच ज्ञानेन्द्रिय–दर्शन, श्रवण, आघ्राण, स्पर्श, स्वाद के बोधक, (२२-२३) पाँच कर्मेन्द्रिय–वचन, आदान, गमनागमन, मूत्र, पुरीषोत्सर्जन के कारक, (२७-३१) पाँच तत्मात्रा और (३२-३६) पाँच महाभूत–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश। शिव से पृथ्वी (पंचमहाभूतों) तक के इन छत्तीस तत्त्वों को शिवभक्त परमशिव के रूप में ही देखता है, परमशिव में इनका दर्श करता है।

यत्किञ्चिदपि मन्यत इत्यर्थः। उक्तं च सिद्धान्तशिखामणौ (१.३) शिवलिङ्गस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वाधारत्वम् — "यस्योर्मिबुद्बुदाभासः षट्त्रिंशत्तत्त्वसञ्चयः। निर्मलं शिवनामानं तं वन्दे चिन्महोदधिम्।।" इति। सर्वभूतेषु उक्तेषु तेषु आत्मानं परमात्मानं शिवम्, चकारः क्रियानुवृत्त्यर्थः। अनुपश्यति "तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः। दीक्षात्रयेण निर्दग्ध्वा लिङ्गत्रयमुपादिशत्।।" इत्युक्तगुरूपदेशानन्तरं पश्यति प्रेक्षते। यः अधिकारी लिङ्गातिरिक्तं न विश्वं जगदतिरिक्तं च न लिङ्गम् इति ज्ञात्वा सर्वात्मकशिवोऽहमित्यभेदोपासनादार्ढ्ये स्वात्मानं शिवं साक्षात्करोति, स मुक्तो भवतीत्याह 'तत' इत्यादिना — ततः अभेदोपासनदार्ढ्यानन्तरं न विजिगुप्सते जुगुप्सां नाप्नोति, मुक्तो भवतीत्यर्थः। "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना।।" एतत्कैवल्यसमानार्थकत्वात्। "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।" इति कृष्णगीतावचनप्रामाण्याच्च ।।६।।

उक्तमेवार्थमाह —

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

अनन्तर जुगुप्सा को प्राप्त नहीं होता, अपितु मुक्त होता है। ऐसा जीव 'सर्वात्मक-शिवोऽहम्' यह अनुभूति करता है। फलतः किसी भी तत्त्व को वह परशिवलिङ्ग से भिन्न नहीं समझता, अपितु उनसे अभिन्न समझता है। 'सिद्धान्तशिखामणि' में परमशिव की इसीलिए वन्दना की गयी है कि वह चिन्मय महासागर है और छत्तीस तत्त्व उसकी लहरें या बुलबुले हैं। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब गुरु त्रिविध दीक्षा के द्वारा जीव के स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरगत आणव, मायीय और कार्मरूप में त्रिविध अनादि मल को स्वच्छ कर उसके निर्मल स्वच्छ अन्तःकरण में इष्टरूप लिङ्ग, जङ्गम प्राणलिङ्ग और गुरु भावलिङ्ग का उपदेश करता है। फलस्वरूप जो अधिकारी जीव विश्व को परमशिव (महालिङ्ग) से पृथक् नहीं समझता और न परमशिव को षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक जगत् से पृथक् समझता है। इस प्रकार 'सर्वात्मक शिव मैं ही हूँ' इस दृढ अभेद बुद्धि से जीव मोक्ष का अधिकारी होता है। 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' यह 'कैवल्योपनिषद्' का मन्त्र तथा 'यो मां पश्यति सर्वत्र' यह 'श्रीमद्भगवद्गीता' का श्लोक इसी प्रकार का अभिप्राय व्यक्त करते हैं।।६।।

जो जीव परमशिवस्वरूप महालिङ्ग में अथवा विशिष्ट अवस्था में 'शिव से लेकर धरणीपर्यन्त छत्तीस तत्त्व परमशिव में हैं और परमशिव इन तत्त्वों में है' यह विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है, उस अभेदबुद्धि रखनेवाले जीव के लिए मोह अथवा शोक का अवसर

यस्मिन्निति। यस्मिन् परशिवलिङ्गे, अवस्थाविशेषे वा, विजानतः शिवादिधरण्यन्तानि तत्त्वानि परमात्मनि लिङ्गे सन्ति परमात्मा च शिवादिधरण्यन्तेष्वस्ति, इति विशेषेण ज्ञानवतः सर्वाणि भूतानि पत्रशाखादयः पादप इव आत्मैवाऽभूद् भवन्ति। शिवादिधरण्यन्तानि तत्त्वानि न शिवलिङ्गविभक्तानि, शिवलिङ्गं च न तदतिरिक्तम् इति ज्ञात्वा य उपास्ते, तस्य तत्र शिवलिङ्गे अवस्थाविशेषे वा एकत्वं स्वाभेदम् अनुपश्यतः को मोहः कः शोकः शोकमोहयोः सङ्कुचितस्वशक्तिमलकार्यत्वात् तन्मलस्य च लिङ्गत्रयोपदेशानन्तरं गुरूपदिष्टोपायानुष्ठानवतः शिष्यस्य असम्बद्धत्वात् तेन च तल्लिङ्गे साक्षात्कृते शोकमोहादीनां दूरापास्तत्वादित्यर्थः। उक्तं च सिद्धान्तशिखामणौ (१०.७०) — "पत्रशाखादिरूपेण यथा तिष्ठति पादपः। तथा भूम्यादिरूपेण शिव एको विराजते।।" उक्तं च स्वस्वरूपशिवलिङ्गसाक्षात्कारे शोकमोहादीनामसत्त्वम् — "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।" इति। (मु० उ०२.२.८) उक्तं चानुभवसूत्रे "एवमद्वैतभक्तस्यैव प्रसादः सर्वतो मुखः। प्रसिद्ध्यति ततः सर्वमात्मरूपेण दृश्यते।।" इत्यादिना "सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात्" इत्यन्तेन।।७।।

कहाँ है? क्योंकि मोह और शोक संकुचित निजशक्ति के मलकार्य हैं। जब गुरु के उपदेश से निर्मल चित्त होने पर शक्ति की विकसित अवस्था में जीव परमशिव का साक्षात्कार करता है, तब मोह और शोक उससे दूर हो जाते हैं। 'सिद्धान्तशिखामणि' के अनुसार शिव से धरणीपर्यन्त सभी रूपों में एक शिव उसी प्रकार विराजमान रहता है, जिस प्रकार पत्र, शाखा आदि के रूप में अनेकविध होने पर भी एक ही वृक्ष विराजमान रहता है। उस परमशिव का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और जीव कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार अद्वैतभक्ति से ही परमेश्वर के चतुर्दिक् सर्वतोमुख प्रसाद (अनुकम्पा) से समस्त जगत् का परमात्मा के रूप में साक्षात्कार होता है ।।७।।

जो अधिकारी भक्त महालिङ्गस्वरूप परमात्मा को सबसे अभिन्न समझते हुए उसका ध्यान और अभ्यास करता है, वह उस परशिवलिङ्ग का साक्षात्कार करता है; जो 'शुक्र' है, अशरीर है, व्रणरहित है, 'अस्नाविर' है, शुद्ध-निर्मल है तथा निष्पाप है।

इस विषय में श्रुति 'नदीसमुद्रन्याय' को स्पष्ट करते हुए कहती है कि 'जिस प्रकार प्रवाहशील नदियाँ अपना नाम और रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अद्वैत तत्त्व को समझनेवाला विद्वान् नाम और रूप से मुक्त होकर उस दिव्य परात्पर पुरुष को प्राप्त करता है।' 'अनुभ सूत्र' इसी न्याय को समझाते हुए अद्वैत भक्तियोग

परशिवस्वरूपं ज्ञात्वा तदुपासनं कुर्वतः शोकमोहाद्यभाव एवेति न, किन्तु सिन्धुसैन्धवयोः, नदीसमुद्रयोः, नीरनीरयोः, क्षीरक्षीरयोरैक्यमिव परशिवमहालिङ्ग-सामरस्यमेव भवतीत्याह —

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।८।।

स पर्यगादिति। यः अधिकारी भक्तः पूर्वोक्तप्रकारेण परमात्मलिङ्गं सर्वाभिन्नं मन्यमानो ध्यानाभ्यासं करोति, सः शुक्राद्यपापविद्धान्तविशेषणविशिष्टं परशिवलिङ्गं पर्यगात् प्राप्नोति। वर्तमाने लुङ्। "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।" इति श्रुतेः। उक्तं चानुभवसूत्रे — "यथा नानाविधा नद्यो नानाविधजला अपि। स्यन्दमाना इमाः सर्वा अकूपारं समाश्रिताः।। तद्रूपेणैव दृश्यन्ते नामरूपे विहाय च। तथाद्वैतं समाश्रित्य क्रिया नानाविधा अपि। अद्वैतभक्तिरूपेण दृश्यन्ते भक्तियोगतः।।" इति।

से क्रियाऽद्वैत का प्रतिपादन इस प्रकार करता है — "जिस प्रकार विविध जलधाराओं से परिपूर्ण नानाविध प्रवाहशील सरिताएँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार अद्वैत भक्तियोग से अद्वैत का अवलम्बन कर अनेक प्रकार की क्रियाएँ भी अद्वैतरूप ही दृष्टिगोचर होती हैं।"

इस प्रकार अधिकारी भक्त जब परमशिवभाव को प्राप्त कर अपना जीवभाव उसमें विलीन कर देता है, तब जगत्-सर्जनादि की क्षमता प्राप्त कर लेता है। वह 'कवि' अर्थात् क्रान्तदर्शी (भूत-भविष्य-वर्तमानद्रष्टा) बन जाता है, क्योंकि श्रुति कहती है — 'नान्यतोऽस्ति द्रष्टा'। 'मनीषी' धैर्यशाली बन जाता है। 'परिभू' सर्वनियामक, सभी को वश में करनेवाला हो जाता है। 'स्वयम्भू' स्वतन्त्रताशक्तिसम्पन्न होता है, किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता। वह शिवादि धरणीपर्यन्त सभी पदार्थों को मिथ्या नहीं, अपितु यथार्थरूप में ही उपस्थित करता है। 'रहस्यसूत्र' के अनुसार 'तुटिपात' से अधिकारी भक्त क्रान्तदर्शी, सर्वनियामक, मनीषी, स्वयम्भू बन जाता है। 'स्पन्दप्रदीपिका'कार उत्पलाचार्य के अनुसार 'तुटिपात' होने पर ही यह सम्भव है। उस अधिकारी भक्त की गुरूपदेश से आदरपूर्वक परीक्षा लेनी चाहिए। 'लिङ्गाङ्गसामरस्य भावना' जिसमें होती है, वह अधिकारी भक्त योगी सर्वज्ञ और जीवन्मुक्त कहलाता है। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' इत्यादि श्रुतिवचन इसीका समर्थन करते हैं।

स्थूलशरीरादिरहिततत्परशिवलिङ्गभावापन्नविगलितजीवभावः सन् भक्तो जगत्सर्जनादि करोतीत्याह – 'कवि'रिति। कविः क्रान्तदर्शी, सर्वदृगित्यर्थः। "नान्यतोऽस्ति द्रष्टा" इति श्रुतेः। परिभूः परिभवति सर्वं वशीकरोति (इति), सर्वनियामक इत्यर्थः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः, स्वेतराननपेक्ष्य वर्तते; स्वतन्त्रताशक्तिमानित्यर्थः। एतावता सर्वज्ञत्वादिकमुपासनफलमुक्त्वा सर्वकर्तृत्वमपि तत्फलमाह — 'याथातथ्यतोऽर्थानि'ति। याथातथ्यतः, यथातथाभावो याथातथ्यम्, तेन यथास्वरूपान् अर्थान् पदार्थान्, न मिथ्यारूपान्, शाश्वतीभ्यः समाभ्यः शाश्वतीषु समासु, विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। व्यदधात् कुरुते। उक्तं च रहस्यसूत्रे — "एषोऽन्यत्र तुटेः पातः प्रोक्तः सर्वज्ञतादिभाक्।" उत्पलाचार्येणापि स्पन्दप्रदीपिकायाम् — "तुटिपाते सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वेशत्वादयो भवन्ति; एष च गुरूपदेशेनादरात् परीक्ष्य" इति व्याख्यातम्। "एवं लिङ्गाङ्गसम्बन्धभावना यस्य विद्यते। स योगी स च सर्वज्ञो जीवन्मुक्तः स उच्यते।।" इत्यादिसिद्धान्तवाक्यानां प्रामाण्याच्च। "अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद" इति श्रुतेः।

अत्र 'शुक्रमि'त्यादीनि वचांसि पुल्लिङ्गत्वेन परिणेयानीति यत्, तत्तुच्छम्, यथाश्रुतनपुंसकलिङ्गत्वेनैव तद्वचसां समन्वयात्। 'यस्तुं सर्वाणि भूतानी'ति मन्त्रे यत्पदनिर्दिष्टाधिकारिणमेव 'स पर्यगादि'त्यत्र तत्पदेन गृहीतुं शक्यत्वात्, यत्तदर्थयो-र्नित्यसम्बन्धाच्च।

जो 'शुक्रम्' आदि परमशिव के विशेषणों को पुल्लिङ्ग में बदलने का विचार करते हैं वह उपेक्षणीय है, क्योंकि जिस प्रकार वे नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हैं, उसी रूप में उन वचनों की सङ्गति बैठती है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' इस मन्त्र में जिस अधिकारी का 'यः' कहकर 'यत्' पद से निर्देश किया गया है, 'सः पर्यगात्' इस मन्त्र में 'सः' कहकर 'तत्' पद से उसीको लेना चाहिए। क्योंकि 'यत्'-'तत्' पदों का नित्य-सम्बन्ध है।

अब शंका उठती है कि जो जीव शिवभावापन्न है, वह सर्वजगत्स्रष्टा बन सकता है, क्योंकि कर्तृत्वशक्ति शरीरधारी में ही होती है, अशरीरी में नहीं। उसके लिए शरीर की अपेक्षा रहती है। जिस प्रकार कुम्भकार शरीरधारी होने पर कुम्भ-निर्माण कर सकता है बिना शरीर के नहीं, उसी प्रकार अशरीरी शिव सर्वकर्ता कैसे हो सकता है। श्रुति कहती है — 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।' जो बिना शरीर के रहता है,

नन्वस्तु सर्वकर्तृत्वसिद्धौ शिवस्य तद्भावापन्नस्य तत्त्वम्; कर्तृत्वस्य शरीरसापेक्षत्वात्, कुलाले तस्य दृष्टत्वात्, प्रकृते च 'अकायमि'त्यादिना शरीरस्य निषिद्धत्वात्। कर्तृत्वसिद्धौ परमेश्वरस्य शरीरसिद्धिः स्वयमेव जाता, "घटस्य कर्ता खलु कुम्भकारः कर्ता शरीरी नहि चाशरीरी" इत्युक्तत्वाच्च कथं कर्तृत्वं शिवस्य सम्भवत्यशरीरत्वात्। "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति श्रुतेः, इति चेन्न; तस्य नित्यशरीरसत्त्वात्। स्थिरेभिरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः इति श्रुतिप्रामाण्याच्च। "या ते रुद्र शिवा तनूः" इत्यादिना तच्छरीरसद्भावस्य दर्शितत्वात्। 'अकायमशरीरमि'त्यादिवाक्यानि तु अनित्यशरीरनिषेधं बोधयन्तीति बोध्यम् ।।८।।

विद्याऽविद्यासमसमुच्चयव्यतिरेकेण न किञ्चित् फलमित्याह —

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।९।।

अन्धं तम इति। ये जनाः अविद्यां विद्याभिन्नां स्वस्वरूपज्ञानभिन्नामित्यर्थः। यजनभजनार्पणार्पितग्रहणादिकर्मस्वासक्ताः केवलं तत्प्रतिक्रियामुपासते अनुतिष्ठन्ति, ते स्वस्वरूपशिवलिङ्गज्ञानरहिता जनाः, अन्धो यथा गर्तं प्रविशति यथा चाग्निना दह्यते, तथा अन्धम् अदर्शनात्मकं तम आणवमायीयकार्ममलरूपं प्रविशन्ति, संसारचक्रे भ्रमन्तीत्यर्थः। य उ ये तु विद्यायां आत्मस्वरूपज्ञान एव रताः कायवाङ्मनःकर्म हित्वा 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादिवाक्यानामक्षरार्थमात्रग्राहका

उसे न तो प्रिय स्पर्श करता है और न अप्रिय। किन्तु यह शंका समुचित नहीं है, क्योंकि परमशिव नित्यशरीरसम्पन्न है। 'स्थिरेभिरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः', 'या ते रुद्र! शिवा तनूः' इत्यादि श्रुतिवचन उसकी नित्यशरीरसत्ता प्रतिपादित करते हैं। 'अकायम्', 'अशरीरम्' इत्यादि परमशिव के विशेषण उसके अनित्य शरीर का निषेध करते हैं, नित्य शरीर का नहीं ।।८।।

इस मंत्र में पृथक्-पृथक् उपासना की निष्फलता प्रतिपादित करती हुई श्रुति कहती है कि जो लोग परमशिव के स्वरूप को बिना समझे यजन, भजन, अर्पण, अर्पितप्रसादग्रहण आदि कामों में आसक्त होकर स्वस्वरूपज्ञानभिन्न केवल अविद्या की उपासना करते हैं, वे गाढ अन्धकार (आणव-मायीय-कर्मफलस्वरूप अदर्शनात्मक संसारचक्र) में भ्रमण करते हैं। वे उसी प्रकार गाढान्धकार में प्रवेश करते हैं, जिस प्रकार अन्धा गढ़े में गिरता है और आग उसे भस्म करती है। जो जीव 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'

यावद्वेदान्तवाक्यानि साकल्येनाऽजानाना: सन्त आत्मैक्यज्ञानैकसक्ता भवन्ति; ते ततः तस्मादन्धरूपात् तमसः, भूय इव बहुतरमेव पङ्गुर्यथाग्निं तथा तमः मलात्मकानलं प्रविशन्ति। उक्तं च ज्ञानकर्मान्यतरासक्तानां न किञ्चिदपि प्रयोजनमिति।

तद्यथा — "ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्मप्रधानं न तु चिद्विहीनम्। तस्माद् द्वयोरेव भवेत् प्रसिद्धिर्न ह्येकपक्षो विहगः प्रयाति।।" उक्तं च सिद्धान्तशिखामणौ (१६.११) "अन्धपङ्गुवदन्योन्यसापेक्षे ज्ञानकर्मणी। फलोत्पत्तौ विरक्तस्य तस्मात्तद् द्वयमाचरेत्।।" उक्तं च शिवरहस्ये — "न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया। अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन् पङ्गुश्च दह्यते।।" उक्तं चान्यत्र — "कुतः स्यादागमो वह्नेर्मन्थानक्रियया विना। आगमश्चात्मसंस्थस्य शिवस्य क्रियया विना।।" उक्तं च स्पन्दप्रदीपिकायाम् — "आगोपबालवनितं भगवंस्त्वमित्थं ज्ञातोऽप्युपायविरहान्न तु मोक्षदोऽसि। नान्तःस्थितं भवति धेनुषु तृड्विहर्तृ क्षीरं तदेव पुनरभ्यवहारतः

इत्यादि वाक्यों का केवल अक्षरार्थ समझते हुए आत्मस्वरूपज्ञानमात्र में आसक्त होकर कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म का अवलम्बन करते हैं, वे उससे भी गहन गाढान्धकार (मलात्मक अनल) में प्रवेश करते हैं। जो जीव ज्ञान अथवा कर्म इनमें से केवल एक का अवलम्बन करते हैं, उनका जीवन निरर्थक है।

ज्ञान की प्रधानता कर्म को छोड़कर नहीं है, और कर्म की प्रधानता ज्ञान को छोड़कर नहीं। ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्ग ही मोक्षप्रद होता है। पक्षी एक डैने का अवलम्बन कर उड़ नहीं सकता, वह दोनों डैनों का सहारा लेकर उड़ सकता है। जिस प्रकार अन्धे को लँगड़े का और लँगड़े को अन्धे का सहारा लेना पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानमार्गी को कर्ममार्ग का सहारा लेना पड़ता है और कर्ममार्गी को ज्ञानमार्ग का। इस प्रकार दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं, यह 'सिद्धान्तशिखामणि'कार का सिद्धान्त है। 'शिवरहस्य'कार का भी यही कथन है कि न तो क्रियारहित ज्ञान सम्भव है और न ज्ञानरहित क्रिया। बिना देखे (बिना स्वरूप जाने) अन्धे को आग जलाती है, देखनेवाले (क्रिया में असमर्थ) लँगड़े को भी आग जला देती है। जिस प्रकार बिना मन्थनक्रिया के अग्नि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार बिना क्रिया के आत्मस्वरूप में अवस्थित परमशिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता। 'स्पन्दप्रदीपिका'कार काश्मीरक उत्पलाचार्य कहते हैं कि 'भगवन्! गोप-बाल और वनिताओं को आप तब तक मुक्ति नहीं देते हैं, जब तक कि वे प्रयत्नशील न हों; भले ही उन्हें आपका स्वरूपतः ज्ञान हो। यद्यपि गायों में स्वभावतः भीतर दुग्ध अवस्थित रहता है; किन्तु बिना घास खाये वे दूध नहीं दे सकतीं। घास

स्यात्।।" तस्मादेकेन ज्ञानेन कर्मणा वा नेष्टार्थसिद्धिसम्भवः, किन्तु समुच्चितज्ञान-कर्मणोरेव सफलत्वमिति फलितार्थः।।९।।

एकैकानुष्ठाने समसमुच्चयमन्तरा न परमपुरुषार्थसिद्धिः, किन्तु पुनरावृत्तिसहितं यत्किञ्चित्फलं भवति। अथवा समसमुच्चयव्यतिरेकेण ज्ञानराहित्यविशिष्टकर्मणा वा कर्माभावविशिष्टज्ञानेन वा नहि 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादिश्रुतिसिद्धनित्यामृतत्व-प्राप्तिर्भवति, किन्तु तदन्यघोरनरकप्राप्तिरेव भवतीत्याह —

अन्यदाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।।१०।।

अन्यदाहुरिति। विद्यया पतिधर्माभावविशिष्टात्मस्वरूपज्ञानेन, अन्यदेव 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' इत्यादिश्रुतिसिद्धाद् मोक्षाद् अन्यदेव पुनरावृत्ति-सहितदेवलोकादिप्राप्तिरूपं फलम्, अथवा नित्यानन्दविपरीतदुःखमयघोरनारकीय-जन्मप्राप्तिरूपफलमेव भवतीत्याहुः। अविद्यया ज्ञानासमानाधिकरणकर्मणा, अन्यत्

खाकर ही वे दूध देती हैं।' केवल ज्ञानमार्ग अथवा केवल कर्ममार्ग से इष्टकार्यसिद्धि नहीं होती, अपितु ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्ग का अवलम्बन ही सफल होता है ।।९।।

इस मंत्र में 'विद्या और अविद्या दोनों में केवल एक की उपासना से विपरीत फल मिलता है' यह प्रतिपादित किया गया है। गुरु भावलिङ्ग, इष्टलिङ्ग और जङ्गम प्राणलिङ्गरूप में विद्यमान महालिङ्गस्वरूप परमशिवोपासना, उनका पादोदक तथा त्रिविध पदार्थों को समर्पित त्रिविध प्रसादग्रहण, भस्मधारण, रुद्राक्षधारण, लिङ्गाङ्गसामरस्यबोधक मंत्रजपादि ये अष्टावरण के अन्तर्गत आते हैं। ये अष्टावरण और पञ्चाचार 'पतिधर्म' अथवा 'पतिकर्म' कहे गये हैं। आत्मस्वरूप का ज्ञान 'विद्या' तथा पतिकर्म 'अविद्या' है।

जो लोग आत्मस्वरूप का ज्ञान तो रखते हैं, किन्तु पतिकर्माचरण नहीं करते वे केवल 'विद्योपासक' हैं और जो आत्मस्वरूप को समझे बिना पतिकर्माचरण करते हैं, वे 'अविद्योपासक' हैं। इस मंत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि केवल विद्योपासना का फल पुनरावृत्तिरहित मोक्षप्राप्ति न होकर पुनरावृत्तिसहित देवलोक-प्राप्ति अथवा शाश्वत आनन्द के विपरीत दुःखप्रचुर घोर नारकीय योनियों की प्राप्ति ही है। उसी प्रकार आत्मस्वरूपज्ञानरहित एकमात्र पतिकर्माचरणस्वरूप अविद्योपासना का फल पितृलोक-प्राप्ति प्रमुख मोक्षरूप पुरुषार्थ से विपरीत शूकरादि योनियों की प्राप्ति होती है, इस तथ्य को हम लोगों ने वीरशैवों से सुना है। किन्तु जो शिवज्ञानी हैं, उन्होंने हमें ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्ग का उपदेश दिया है। इसके अन्तर्गत फलाभिसन्धिसहित

पितृलोकप्राप्तिरूपं फलमाहुः। अथवा अन्यद् मुख्यपुरुषार्थभिन्नशुनकसूकरादिजन्मरूपं फलमाहुरिति। एवं धीराणां वीराणां वचनं शुश्रुम श्रुतवन्तः, ये शिवज्ञानिनः, नः अस्मभ्यं तत् कर्म च ज्ञानं च व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः। वयं तु ज्ञानकर्मसमुच्चय-वादिनः। समुच्चयघटककर्मणि फलाभिसन्धिसहितपशुकर्मणां नाऽन्तर्भावः, किन्तु तेषां पतिधर्मसमर्पणत्वेन परम्परया विनियोग इति वदामः। तदुक्तं प्रथमत एव 'अनेकजन्मशुद्धानाम्' इत्यादि। न वयं ब्रह्मज्ञानैकनाश्यानि कर्माणि कर्मफलानीति जानीमः। शिरोरोगनाशायौषधिपरिज्ञानं शक्यम्, लेपनमन्तरा व्याध्यनिवृत्तेः। ज्ञानमन्तरा लेपनाऽसम्भवेन च ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यामीश्वरार्पणबुद्ध्युपजीविभ्यां फलाभिसन्धिरहिताभ्यां नित्यामृतत्वप्राप्तिर्भवतीत्यस्माकमाशयः।

न च 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० उ० २.२.८) इत्यनेन कर्मणां ज्ञाननाश्यत्वस्योक्तत्वात् कथं ज्ञानसामानाधिकरण्यं कर्मण इति वाच्यम्, कर्मक्षयो नाम स्वकार्यानुत्पादकत्वेन भर्जितबीजवद् भोगासमर्पिततत्वमेवेत्यस्मदभिमतत्वात्। उक्तं चानुभवसूत्रे —'अद्वैतभक्तियुक्तस्य योगिनः सकलक्रिया। अस्ति दग्धपटन्यायात् क्रियामात्रा हि न क्रिया।। क्रियामात्रा क्रिया नैव प्रतिबन्धाय देहिनाम्। केवला निर्मला शुद्धा फलकामविवर्जिता।। फलकामप्रयुक्ता हि क्रिया सा प्रतिबध्यते। क्रियामात्रा न बन्धायेत्यत्राश्चर्यं किमुच्यताम्।। फलकामतया कर्मक ्णं प्रतिबध्यते। न कर्ममात्रकरणं तस्मात् कर्मफलं त्यजेत्।। त्यक्ते कर्मफलेऽप्यस्य विलासो नैव

पशुकर्मों (यजन-याजन आदि) का अन्तर्भाव नहीं होता, अपितु शिवार्पणबुद्धि से परम्परा द्वारा विनियोग हो सकता है। जैसा कि 'अनेकजन्मशुद्धानाम्' (मं० ३, टी० पृ० १३) में पूर्वप्रतिपादित है। हम लोग ब्रह्मज्ञान का नाश करनेवाले कर्मों को कर्मफल के रूप में स्वीकार नहीं करते। सिर का दर्द तभी दूर हो सकता है, जब औषधि का ज्ञान हो और उसका लेपन सिर में किया जाय। बिना औषधि-ज्ञान के उसका लेपन हो नहीं सकता और औषधि का ज्ञान होने पर भी बिना लेपन के सिर-दर्द दूर नहीं हो सकता। उसी प्रकार ईश्वरार्पण-बुद्धि से ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्ग का अवलम्बन करनेवाले अधिकारी भक्तों को फलाभिसन्धिरहित नित्य अमृतत्वरूप मोक्ष-प्राप्ति होती है।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि' (मु० उ० २.२.८) वचनानुसार कर्म करने से ज्ञाननाश होता है, ऐसी स्थिति में ज्ञान और कर्म का सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव है? परन्तु यह शङ्का समुचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार भट्ठी में डाला हुआ बीज फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार भोग-भावना से नहीं, अपितु

बाधते। यथा चित्रपटस्त्रीणां विलासो नैव बाधते।। तथाऽद्वैतक्रियाणां च विलासो नैव बाधते। न प्ररोहन्ति बीजानि यथा भ्रष्टानि भूतले।। अद्वैतभक्तियुक्तानि कर्माणि च तथैव हि। यथा वन्ध्यास्त्रियो लोके फलाय न कदाचन।। तथाद्वैतक्रिया लोके फलाय न कदाचन।।' इति, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इति कृष्णोक्तत्वाच्च। तस्मान्न पतिकर्मणा ज्ञानस्य विरोधः। अन्यथा तव विरोधस्फूर्तिरिव न स्यात्। ज्ञानकर्मज्ञानमन्तरा तयोर्विरोध इति कथं वा ज्ञातुं शक्यते? यानि तु स्वर्गाद्यनित्यफलकानि कर्माणि, तैः सह नित्यमोक्षफलकज्ञानेन विरोधः स्यात्। नित्यमोक्षफलकपतिकर्मभिर्नैव विरोधः। तस्मान्न ज्ञानकर्मणोर्विरोधं प्रकल्प्य नह्युत्पन्नज्ञानस्य कर्मारम्भो युक्त इत्युक्तमुपपन्नं भवति।

ननु, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (कै० उ० ३), 'नान्यत्र कर्मसंत्यागान् मोक्षं विन्दन्ति मानवाः', 'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादिना कर्मणो मोक्षाजनकत्वस्योक्तत्वात् कथं ज्ञानसहकृतकर्मणो मुक्तिफलमिति चेन्न, 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि', 'न मांसमश्नीयात्', 'नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यात्' इत्यादिना

ईश्वरार्पण-बुद्धि से किये गये पतिकर्माचरण फलप्रद नहीं होते और इसीका नाम है 'कर्मक्षय'। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार अद्वैतभक्तिसम्पन्न शिवयोगी की समस्त क्रियाएँ 'दग्धपटन्याय' से फल-कामना से वर्जित होने के कारण प्रतिबन्धक नहीं होतीं, क्योंकि निष्काम होने के कारण वे निर्मल, शुद्ध रहती हैं। किसी भी फल की कामना से की गयी क्रियाएँ प्रतिबन्धक होती हैं। इसलिए कर्मफल का परित्याग करना चाहिए। जिस प्रकार चित्रपट पर अंकित तरुणियों की शृंगार-लीलाएँ प्रतिबन्धक नहीं होतीं, उसी प्रकार कर्मफल का परित्याग करने पर अद्वैतभावना से अनुष्ठित क्रियाएँ बाधक नहीं होतीं। जिस प्रकार जमीन पर गिरे हुए बीजों से अङ्कुर नहीं निकल सकते, उसी प्रकार अद्वैतभक्तिसम्पन्न शिवयोगी की क्रियाएँ कामफलप्रद नहीं होतीं। जिस प्रकार वन्ध्या स्त्रियाँ पुत्र नहीं दे सकतीं, उसी प्रकार अद्वैतक्रियाएँ भी निष्फल होती हैं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' वचन से भगवद्गीता इसीका समर्थन करती है। वस्तुतः स्वर्गादिप्राप्तिरूप अनित्य फल प्रदान करनेवाले कर्मों से नित्य मोक्षफलप्रद ज्ञान का विरोध हो सकता है, नित्य मोक्षफलप्रद पतिधर्म के साथ नहीं।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'न कर्मणा न प्रजया' (कै० उ० ३.३), 'नान्यत्र कर्मसंन्यासात्', 'नास्त्यकृतः कृतेन' आदि वचन कर्म को मोक्षजनक नहीं कहते। ऐसी स्थिति में ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म मुक्तिफलप्रद कैसे हो सकता है? इसका समाधान

पशुहिंसादेर्निषिद्धत्वेऽपि 'सोमेनोच्छिष्टम्', 'यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि-विशेषवाक्यविहितपश्वालम्भनादितत्तद्धर्मकर्तव्यत्ववत् 'सर्वलिङ्गं स्थापयति', 'अमृतस्य देवधारणो भूयासम्' इत्याद्यनेकवाक्यविहितलिङ्गधारणादिपतिधर्माणां यावज्जीव-कर्तव्यत्वविधानात् 'न कर्मणा' (कै० उ० ३) इत्यत्रोक्तकर्मपदस्य मोक्षफलकपतिकर्म-भिन्नेष्टापूर्तादिपशुकर्मपरतया वा ज्ञानासहकृतकर्ममात्रपरतया वा व्याख्याने न काचिदनुपपत्तिः ।।१०।।

विद्याकर्मान्यतरस्य परामृतत्वाजनकत्वमुक्त्वा विद्याकर्मसमुच्चयस्य मोक्ष-फलकत्वमाह —

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।११।।

विद्यां चेति। विद्यां च ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं च, अविद्यां च विद्याभिन्नां क्रियां च शिवलिङ्गयजनभजनादिरूपां तदुभयं सह मिलितं परस्परं सामानाधिकरण्यापन्नं यः परमपुरुषार्थसाक्षात्साधनत्वेन वेद जानाति, स अविद्यया शिवलिङ्गार्पितपतिकर्मणा, मृत्युं मरणजननादिप्रवाहमूलं मलत्रयम्, तीर्त्वा अतिक्रम्य, विद्यया स्वस्वरूपशिवज्ञानेन, अमृतं शक्तिविकासरूपममृतत्वम्, अश्नुते प्राप्नोति। उक्तं च शिवसूत्रे —'चित्तमात्मे'ति। एतत्सूत्रव्याख्याने च आणवादिमलनाशकत्वमन्तर्लिङ्गधारणापरपर्यायध्यानादेरुपायस्य,

---

यह है कि जिस प्रकार 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि', 'न मांसमश्नीयात्', 'नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यात्' इन वचनों से पशुहिंसा का निषेध करने पर भी 'सोमेनोच्छिष्टम्', 'यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि विशेष वचनों से पश्वालम्भन का विधान किया गया है, उसी प्रकार 'सर्वलिङ्गं स्थापयति', 'अमृतस्य देवधारणो भूयासम्' इत्यादि अनेक विशिष्ट वाक्यों से लिङ्गधारणादि पतिकर्म का आजीवन अनुष्ठान करने का विधान किया गया है। इस प्रकार 'न कर्मणा' (कै० उ० ३) इस मंत्र में 'कर्म' पद की व्याख्या पतिकर्म से भिन्न इष्टापूर्त आदि पशुकर्मपरक अथवा ज्ञान-असहकृत कर्ममात्रपरक करने पर किसी प्रकार की असंगति कभी भी नहीं हो सकती ।।१०।।

इस मंत्र में उभयोपासना की मुक्तिप्रदायकता प्रतिपादित है। ईश्वर (शिव) और जीव का ऐक्यज्ञानस्वरूप विद्या और उससे भिन्न शिवलिङ्गपूजनादिक्रियारूप अविद्या दोनों के सामानाधिकरण्य को परम पुरुषार्थ के साधन के रूप में समझ लेता है, अविद्या अर्थात् शिवलिङ्गादि पतिकर्माचरण से जनन-मरणचक्र के मूल में अवस्थित आणव, मायीय और कार्ममलस्वरूप मृत्यु को पार कर विद्या, अर्थात् स्वस्वरूप में अवस्थित शिवज्ञान

इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनामेव परप्रमात्रविनाभूतानां स्वस्वातन्त्र्यप्रयुक्तसङ्कोचदशायां मलत्रयरूपत्वात् 'गुरुरुपायः' इति सूत्रनिर्दिष्टमुख्योपायभूतगुरुकृतलिङ्गाङ्गसंयोगानन्तरं शिखिकर्पूरयोगन्यायेन मलत्रयस्य निस्सरणात् परप्रमातृशक्तिविकास एव जायते। तदा तदेतदङ्गस्थलं सर्वज्ञत्वादिषडङ्गलिङ्गस्थलमेव जायते इत्यर्थः। उक्तं च शिवलिङ्गार्चनस्य कार्मादिमलनाशकत्वं श्रीमद्धरदत्तभगवत्पादाचार्येणापि — "पत्न्या समं सह गणैः सह वा सुताभ्यां सार्धं तदा परिषदा विषमेक्षणं त्वाम्। आद्यष्टमीतिथिनिशामुखमर्चयन्तः पापं तरन्त्यपजयन्ति महेशमृत्युम्।।" इत्यादिना।

ननूत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतीनां कर्मफलत्वादविद्यानिवृत्तिफलत्वाच्च विद्यायाः कथमनयोः सामानाधिकरण्यम्? नहि शुक्तिकाशकलं साकल्येनाऽऽकलयतः कलधौतविभ्रमनिवृत्तिः स्नानाचमनकर्मापेक्षया विलम्बते। तस्माद् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्यैव तदविद्यानिवृत्तिफलकत्वमित्यभ्युपेयम्। श्रूयते च 'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'न कर्मणा न प्रजया धनेन', 'नास्त्यकृतः कृतेन', 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इत्यादि। स्मर्यते च "ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते। तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः।।" इति। नन्वेतेषां वचनानां केवलानामेव स्थूलकर्मणां कैवल्यसाधनत्वनिराकरणपरत्वात्, समुच्चितानामुपपन्नत्वात् तत्साधनभावस्य, अन्यथा 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' इत्याद्युक्तेरेकैकनिन्दापुरस्सरं

से शक्तिविकासस्वरूप अमृतत्व, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। 'शिवसूत्र' का अन्यतम सूत्र है — 'चित्तमात्मा'। इस सूत्र के व्याख्यान के सन्दर्भ में कहा गया है कि ध्यान, अर्थात् अन्तरंग में लिङ्गधारण तथा अन्य उपायों के द्वारा आणव आदि तीनों मलों का नाश होता है। परप्रमाता के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध रखनेवाली इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्तियाँ तीनों मलों का परिणाम हैं। 'गुरुरुपायः' इस सूत्र में निर्दिष्ट मुख्य उपाय गुरूपदेश ही है, जिसके द्वारा गुरु के द्वारा शिष्य में लिङ्गाङ्गसम्बन्ध स्थापित होने पर शिखिकर्पूरयोगन्याय मलत्रय का अपसारण होता है। अर्थात् जिस प्रकार आग की शिखा से कपूर जल उठने पर कपूर का मूलरूप ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार गुरुकृत दीक्षा से तीनों मलों का अपसारण और परप्रमाता की शक्ति का विकास होता है और वह अङ्गस्थल सर्वज्ञत्वादि छः अंगों के साथ लिङ्गस्थल बन जाता है। श्रीमान् हरदत्तभगवत्पादाचार्यजी ने भी शिवलिङ्गार्चन की कार्मादिमलनाशकता को प्रतिपादित किया है।

पुनश्च प्रश्न उठता है कि उत्पत्ति, आप्ति, विकृति एवं संस्कृतियाँ कर्मफल हैं और इनका फल है अविद्या की निवृत्ति। ऐसी स्थिति में विद्या और अविद्या का सामानाधिकरण्य

'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादिना ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोर्मोक्षसाधनत्वप्रतिपादनं न स्यात्। तथा च सङ्कुचितशक्तित्रयरूपमलत्रयनिवृत्तिः शक्तिविकासरूपशिवत्व-प्राप्तिर्मोक्षः। तत्र मृत्युशब्दितकार्मादिमलनाशफलकत्वमविद्याशब्दितकर्मणां हार्दाकाश-मध्यलिङ्गधारणादीनां सूक्ष्माणाम्, विद्यायास्तु तिरोहितस्वशक्तेराच्छादनविगलन-फलकत्वम्, वायोः सूर्याच्छादनमेघनिस्सरणफलकत्ववत्।

यत्तु देवताज्ञानं विद्याशब्देन विवक्षितम्, तस्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन वाक्येन कथ्यत इति वदन्ति, तदप्ययुक्तम्, 'ईशावास्यमिदं सर्वमि'त्युपक्रमे महेश्वरस्यैव प्रक्रान्तत्वात्, तस्य मानसकर्मत्वाच्च, 'अविद्यया विद्यये'ति पृथगुपादानाच्च। विद्याशब्दस्य उपासनापरकत्वे तन्न स्यात्। श्रुतिः स्मृतिरपि समुच्चयं प्रतिपादयतः — 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' इति। ''तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्। तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।। तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने। यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चाऽन्नेन संयुतम्। एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत्।।'' इति। तस्मात् कर्मनिन्दाप्रतिपादकवाक्यानां केवलज्योतिष्टोमादिस्थूलकर्मविषयत्वमेवेति निश्चीयते।

कैसे सम्भव है? जो सीप के स्वरूप को पूर्णरूप से जान लेते हैं, उनके लिए उसमें चाँदी के भ्रम के निवारण में विलम्ब नहीं होता, उसके लिए स्नान, आचमन आदि कर्मों की अपेक्षा नहीं रहती। अतः ब्रह्मात्मसाक्षात्कार का प्रधान प्रयोजन अथवा फल अविद्यानिवृत्ति है यह समझना चाहिए। अत एव 'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतिवचन कर्मसंन्यास का उपदेश देते हैं। वस्तुतः ये वचन केवल स्थूल कर्मों को कैवल्यसाधन में प्रतिबन्धक मानते हैं। ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्ग मोक्षसाधना का उपाय है। अन्यथा 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इन वचनों से विद्या-अविद्या के पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा करते हुए 'विद्यां चाऽविद्यां च' इत्यादि मंत्रों से उभयमार्ग की मोक्षसाधनता का प्रतिपादन ही नहीं हो सकता। इस प्रकार मोक्ष का लक्षण होता है इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन तीन संकुचित शक्तियों के रूप में अवस्थित आणव, मायीय तथा कार्म मलों की निवृत्ति और शक्ति का विकास होने से अमृतत्वरूप शिवत्वप्राप्ति। अविद्या अर्थात् हृदयाकाश में लिङ्गधारणादि सूक्ष्म कर्मों की उपासना का फल है मृत्यु, अर्थात् कार्मादि-मलों का नाश और विद्या अर्थात् ब्रह्म-जीवैक्यज्ञान का फल है अपनी तिरोहित आच्छादित शक्ति पर से आवरण का हटना। जिस प्रकार सूर्य पर ढँके हुए आवरणस्वरूप मेघ को वायु हटा देती है, उसी प्रकार लिङ्गधारणादि सूक्ष्मकर्म मलत्रय को हटा देते हैं।

नहि ज्ञानसहकृतलिङ्गधारणादिपतिकर्मजन्यमोक्षस्य भवन-दोहन-अभिषव-प्रोक्षणैः पिण्डपयःसोमव्रीहीणामिव उत्पाद्याऽऽप्य-विकार्य-संस्कार्यत्वं सम्भवति। उत्पत्त्याप्ति-विकृति-संस्कृतयस्तु ज्ञानाऽसहकृतपशुकर्मणां फलानि सन्तु। ज्ञान-विशिष्टलिङ्गधारणादिपतिकर्मणां तु पुनरावृत्तिरहितसर्वज्ञत्वादिषडङ्गशिवत्वप्राप्तिरेव फलमिति 'अमृतस्य देवधारणो भूयासम्', 'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते' इत्यादि-श्रुतिभिः (ऋ० ९.८३.१) निश्चीयते। एतेन 'तमेकं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इति श्रुत्या यज्ञादिकरणकत्वस्य ज्ञानेऽवगमात् कर्मणां ज्ञानसाधनत्वमेव, न तु मोक्षसाधनत्वमित्युक्तमपि प्रत्युक्तम्।

अत्र यज्ञपदस्य बाह्ययज्ञपरत्वेन व्याख्यानम्। अन्यथा 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' इत्यत्र तृतीयान्ततपःशब्दवाच्याभ्यन्तर-ध्यानधारणादिकर्मणा शिवत्वप्राप्तिर्न स्यात्, न स्याच्च केवलं विद्यानिन्दा। न च निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि सम्भवात्, 'यज्ञेने'ति तृतीयान्तश्रुतेः प्रक्रमाद् बलीयस्त्वात्, तस्य बाध्यत्वात्, 'विद्यां चाऽविद्यां चे'ति श्रुतेः (ईशा० उ० ११) क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाऽप्युपपत्तिसम्भवात्, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ईशा० उ० ११) इति पौर्वापर्याभिधानाच्चेति वाच्यम्; 'तपसे'ति तृतीयान्तश्रुतेरपि

'विद्या' शब्द का अर्थ देवता करते हुए उसका कर्म के साथ समन्वय इस मंत्र से किया गया है ऐसा जो कहते हैं, वह युक्तिसंगत नहीं है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस उपक्रम में महेश्वर शिव ही विवक्षित है। महेश्वर का ध्यान मानस कर्म है, 'अविद्यया विद्यया' इस मंत्र से दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। 'विद्या' शब्द यहाँ उपासनापरक है। श्रुति एवं स्मृति भी ज्ञान-कर्म-समुच्चय का ही प्रतिपादन करती हैं। अतः कर्मनिन्दापरक वाक्यों को ज्योतिष्टोम-यज्ञादि स्थूल (पशु) कर्मपरक समझना चाहिए, हृदयाकाश में लिङ्गधारणादि सूक्ष्म (पति) कर्मपरक नहीं।

जिस प्रकार पिण्डीभाव से पिण्ड की उत्पत्ति, दोहन से पयःप्राप्ति, अभिषिञ्चन से सोम की विकृति तथा प्रोक्षण से व्रीहि की संस्कृति संभव है, उसी प्रकार ज्ञानसहकारी लिङ्गधारणादि पतिकर्मजन्य मोक्ष उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य नहीं होगा। भले ही उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति ज्ञान-असहकृत ज्योतिष्टोमयागादि स्थूल पशुकर्मों के फल हों। ज्ञानविशिष्ट-लिङ्गधारणादि पतिकर्माचरण का फल पुनरावृत्तिरहित सर्वज्ञत्वादिषडङ्गयुक्त महेश्वरत्व-प्राप्ति ही है। अनेक श्रुति-स्मृतिवचन इसके प्रमाण हैं। अनेक वचनों के आधार पर जो यज्ञादि कर्मों को केवल ज्ञानसाधन समझते हैं, मोक्षसाधन नहीं, उनके प्रति भी यही समझना चाहिए।

सत्त्वात् समसमुच्चयपक्षे उपक्रमाविरोधात्। 'यस्तद्वेदोभयं सह' (ईशा० उ० ११) इत्यनेन ज्ञानकर्मणोः सहभावस्य श्रुतत्वात्। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ईशा० उ० ११) इत्यभिधानं तु लिङ्गत्रयधारणापसृतमलत्रयमन्तरा शिवत्वप्राप्तिरूपमोक्षो न भवतीति प्रदर्शनार्थमिति बोध्यम्। वेदान्तसारोपनिषदि 'हृदब्जमध्ये लिङ्गं धृत्वा ज्योतिषि संविशन्ति, अत्याश्रमस्थाः परिमुच्यन्ति सर्वे लिङ्गाङ्गशोभामोक्षमार्गैकनिष्ठाः' इति। किञ्चाऽस्मिन्नेवोपनिषदि 'शिवप्रसादात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति कण्ठरवेणैव शिवलिङ्गधारणशिवप्रसादग्रहणादिपतिकर्मणां साक्षान्मोक्षजनकत्वस्योक्तत्वात्, 'मोक्षार्थिनां मुक्तिहेतुर्लिङ्गधारणमीर्यते' इति पुराणवचनाच्च नान्यथा सिद्धानि पतिकर्माणि। तथा च 'न कर्मणा' (कै० उ० ३), 'कर्मणा बध्यते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां पशुकर्मत्यागो विहितो न तु पतिकर्मत्याग इति मोक्षफलकत्वाद्यनेकश्रुतिबलादवगन्तव्यः। पशुकर्मत्यागिनां वीरशैवानां पशुकर्माङ्गभूततन्तुमययज्ञोपवीतादिप्राकृताश्रमधर्मत्यागोऽपि 'न कर्मणा' (कै० उ० ३) इत्यादिनैव सूचित इत्यभ्युपेयम्। कर्माङ्गभूतयज्ञोपवीतादीनां शेषिकर्मपरित्यागे सुतरां तत्परित्यागौचित्यात् 'कर्माङ्गत्वं तु तत् तेषां क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्' इत्यादिश्रुतिवाक्यैर्निश्चीयते।

यहाँ 'यज्ञ'पद का अर्थ बाह्ययागपरक है, अन्तर्यागपरक नहीं। 'सत्येन लभ्यस्तपसा' मंत्र में 'तप' शब्द का अर्थ है आभ्यन्तर ध्यानधारणादि कर्म, जिससे शिवत्वप्राप्ति सम्भव है, अन्यथा इसका अर्थ बाह्य तप करने से यह सम्भव नहीं है। केवल विद्या की निन्दा यहाँ की गयी है, अविद्या (कर्म) की नहीं ऐसा भी नहीं समझना चाहिए। 'यज्ञेन' यह तृतीयान्त श्रुति बलवती है और वह अन्तर्यागपरक है। 'विद्यां चाऽविद्यां च' श्रुति समुच्चयमार्ग की प्रतिपादिका है। 'तपसा' यह तृतीयान्त श्रुति भी समसमुच्चयपरक है। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' का अर्थ है बिना मलत्रय के अपसारण के शिवत्वप्राप्तिरूप मोक्ष नहीं होता और मलनिवारण तभी सम्भव है, जब हृदयाकाश में लिङ्गधारण किया जाय। वेदान्तसारोपनिषद् तो पतिधर्म को साक्षात् मोक्षजनक कहती है। पुराणवचन भी इसीका समर्थन करते हैं। अनेक श्रुति-स्मृतिवचन पशुकर्म के त्याग का विधान करते हैं, पतिकर्म के त्याग का नहीं। जो वीरशैव पशुकर्मों का त्याग करते हैं, उन्हें तदंगभूत तंतुमय यज्ञोपवीतादिधारणस्वरूप प्राकृत आश्रमधर्म का भी परित्याग करना चाहिए।

ननु पशुकर्मणामपि निष्कामतयैवानुष्ठानात् पतिकर्मत्वात् तदनुष्ठाने तदङ्गभूतयज्ञोपवीतादीनामप्यावश्यकत्वात् कथं तत्परित्यागः? इति चेत् सत्यम्। 'निष्कामसमनुष्ठानात् पतिकर्मत्वमप्ययेत्' इत्यनेकग्रन्थवचनानुगुण्येन तानि पतिकर्माणि भवन्ति, तथापि नोऽस्माकं तदनुष्ठाने प्रयोजनं किञ्चित्, तेषां निष्कामकर्मणां शिवभक्त्युदयपर्यन्तं नियमेनानुष्ठेयत्वात्। अस्मिन्नर्थे "अनेकजन्मशुद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम्। नराणां क्षीणपापानां शिवे भक्तिः प्रजायते।।" इत्यादिवचनान्यनुसन्धेयानि। इत्थं च कर्मपरित्यागविधायकवाक्यानां स्थूलकर्मविषयत्वमेव। तथा च न स्थूलकर्मणां समुच्चयघटितत्वम्। तत्परित्यागे तदङ्गप्राकृततन्तुमययज्ञोपवीतादीनामपि सुतरां परित्यागो मुमुक्षूणां वीरशैवानां विहित इति बोध्यम्। एतद्विषयकविस्तृतविचारस्तु मत्कृत'ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तौ' द्रष्टव्यः ।।११।।

कर्मज्ञानसमसमुच्चयं निरूप्य शक्तिशिवोपासनैकैकनिन्दापूर्वकं शक्तिविशिष्टशिवलिङ्गोपासनफलं मुक्तिमाह। यद्वा स्थूलसूक्ष्मशक्तिविशिष्टसगुणनिर्गुणोपासनान्यतरस्याऽनित्यसिद्ध्यादिरूपफलमुक्त्वा तत्समुच्चयस्य मुक्तिफलमाह —

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ।।१२।।

यदि पशुकर्मों को भी समर्पणबुद्धि से किया जाय तो वे पतिकर्म होते हैं। निष्कामभावना से उनका अनुष्ठान होने पर तदंगभूत यज्ञोपवीतादिधारण का परित्याग किस प्रकार सम्भव है? इस प्रकार की शंका का समाधान यह है कि यद्यपि निष्काम कर्मोपासना से पशुकर्म भी पतिकर्म बन जाते हैं यह सत्य है, तथापि वीरशैवों को उनका कोई प्रयोजन नहीं है। जो कर्म शिवभक्ति के उदयपर्यन्त अनुष्ठान करने योग्य हों, उन्हें ही करना चाहिए, अन्य को नहीं। इस विषय में 'अनेकजन्मशुद्धानाम्' आदि वचन अनुसंधानयोग्य हैं। इस प्रकार 'कर्मसंन्यास' का अर्थ है स्थूल कर्मों का परित्याग; अतः एव मुमुक्षु वीरशैवों को पशुकर्मांगभूत यज्ञोपवीतादिधारण का भी सुतरां परित्याग करना चाहिए। सूक्ष्म कर्मों का परित्याग ज्ञान-कर्म-समुच्चय-मार्गानुयायियों के लिए कथमपि सम्भव नहीं है ।।११।।

इस मंत्र में शक्ति अथवा शिव किसी एक की उपासना की निन्दा की गयी है। जो जीव शिव-योग की भूमिका में रहते हुए भी परिमित सिद्धियों की प्राप्ति की कामना से 'असम्भूति' अर्थात् 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी' इस शिवसूत्र में प्रतिपादित इच्छाशक्तिमयी कारणात्मिका कौमारी उमाशक्ति की मात्र उपासना करते हैं, वे अज्ञानात्मक संसारचक्र

अन्धं तम इति। ये शिवयोगभूमिकामापन्नाः, असम्भूतिं कारणात्मिकां शक्तिमेव उपासते, अनुसन्दधंते, अर्थात् मितसिद्धीरभिलष्यन्तः 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी' इति शिवसूत्रोक्तशक्तिमेव उपासते, तेऽन्धं तमः अदर्शनात्मकं संसारं प्रविशन्ति। ततः तस्मादपि भूय इव बहुतरमेव तमः अज्ञानात्मकं संसारं ते प्रविशन्ति। ते के इत्यत्राह 'य उ' इत्यादिना। ये उ योगिनः। सम्भूत्यां शिवदेवतायां रता आसक्ताः, यद्वा अविद्यमाना सम्भूतिः स्थूलपरिणामो यस्य स असम्भूतिः, सूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्ट इत्यर्थः। तमेव ये उपासते, सम्भूत्यां स्थूलचिदचित्प्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्टे कार्यब्रह्मणि। 'शोणो धावती'त्यत्रेव सम्भूतिपदस्य लाक्षणिकत्वं बोध्यम्, अन्यत् पूर्ववद् द्रष्टव्यम् ।।१२।।

एकैकोपासनस्य फलमाह —

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।।१३।।

अन्यदिति। सम्भवात् स्थूलशक्तिविशिष्टात् शिवलिङ्गात्, तदुपासनादित्यर्थः। अन्यदेव मोक्षादन्यदेव सिद्धिरूपफलमाहुः। असम्भवात् सूक्ष्मशक्तिविशिष्टसर्वकारण-परशिवोपासनात्, अन्यदेव मोक्षादन्यदेव अणिमाद्यैश्वर्यं फलमाहुः। निर्गुणनिष्क्रिय-निष्कलङ्काऽवाङ्मानसगोचरेत्याद्युपनिषच्छब्दप्रतिपाद्यसूक्ष्मशक्तिविशिष्टमेव ये उपासते,

---

में प्रवेश करते हैं। जो योगी 'सम्भूति' अर्थात् केवल शिवदेवता में ही आसक्त रहते हैं, वे उससे भी गहन अन्धकार (अज्ञानात्मक संसारचक्र) में प्रवेश करते हैं। अथवा जो शिवयोगी सूक्ष्म चिदचित्प्रपञ्चाकार शक्तिविशिष्ट निर्गुण शिव की मात्र उपासना करते हैं, वे गाढान्धकार (अज्ञानमय सांसारिक प्रपञ्च) में डूबते हैं और जो स्थूल चिदचित्प्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्ट सगुण शिव मात्र की उपासना करते हैं, वे उससे भी गहन अन्धकार में डूबते हैं। (अतः कर्मज्ञानसमुच्चयात्मक उपासना करनी चाहिए, जो मोक्षप्रद होती है, अथवा स्थूल-सूक्ष्मशक्तिविशिष्ट सगुण-निर्गुणोपासना करनी चाहिए, जो मुक्तिप्रद हो।)।।१२।।

'सम्भव' अर्थात् स्थूल शक्तिविशिष्ट (सगुण) शिवलिङ्ग की उपासना का फल भिन्न होता है, उससे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कलङ्क, अवाङ्मनसगोचर सूक्ष्म शक्तिविशिष्ट परशिव की उपासना का फल भिन्न होता है; उससे अणिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। अर्थात् केवल सगुणोपासना अथवा केवल निर्गुणोपासना का

तेषामनित्यफलमेव। किं च 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्, मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः', 'इष्टमूर्जं तपसाऽनुयच्छति', "बुद्ध्यालोकन-साध्येऽस्मिन् वस्तुन्यस्तमिता यदि। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।" इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमनोदृक्कलाग्राह्यस्थूलशक्तिविशिष्टशिवलिङ्गमात्रोपासकानामपि मोक्षादन्यत्फलमेवेति। इत्थं धीराणां वीराणां शिवज्ञानिनां शुश्रुम श्रुतवन्तः। ये वीरा नः फलं व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः।।१३।।

सगुणनिर्गुणोपासनान्यतरस्य मोक्षभिन्नसिद्ध्यादिफलमुक्त्वा तच्छिवस्वरूपज्ञाना-नन्तरं तत्समुच्चयस्य मुक्तिफलमाह —

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।।१४।।

सम्भूतिमिति। 'सम्भूतिमि'त्यत्र अवर्णलोपो द्रष्टव्यः। असम्भूतिं पूर्वोक्तविमर्श-शक्तिम्, विनाशं च विनश्यते विश्वं यत्रेति विनाशः, तं विनाशाद्याश्रयमित्यर्थः। अत्राप्यवर्णलोपेन वा अविनाशं विनाशादिदोषरहितं च शिवं विगतो वीतो नाशो यस्येति वा विनाशः, तमित्यर्थः। य उपासक उभयं शक्तिशिवोभयं सह मिलितम्, अन्योन्याविनाभावयुक्तं लिङ्गमित्यर्थः। तदुक्तमागमे — "बिन्दुरूपा पराशक्तिर्नादरूपः परः शिवः। बिन्दुनादात्मकं लिङ्गं तस्माच्छिवशिवात्मकम्।।" इति। वेद उपासते, स उपासको विनाशेन अविनाशेन विनाशादिदोषरहितेन शिवेन, लिङ्गे प्राधान्यतः

फल अनित्य है, दोनों को ही मोक्षफल नहीं मिलता, उससे भिन्न फल मिलता है। (नित्य फल तो एकमात्र मोक्ष है, जो उभयोपासकों को मिलता है।) यह सिद्धान्त हम लोगों ने उन शिवज्ञानी वीरशैवों से सुना है, जिन्होंने पूर्वोक्त रीति से व्याख्या की है ।।१३।।

इस मंत्र में समुच्चयोपासना की मुक्तिफलप्रदायकता प्रतिपादित है —

यहाँ 'सम्भूति' शब्द में अकार का लोप मानकर 'असम्भूति' समझना चाहिए। 'असम्भूति' का अर्थ बारहवें मंत्र में प्रतिपादित है। तदनुसार 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी' इस शिवसूत्रोक्त विमर्शशक्ति और 'विनाश' अर्थात् विनाशादि का आश्रय अथवा यहाँ भी अवर्णलोप की कल्पना करते हुए 'अविनाश' विनाशादिदोषरहित शिव दोनों की उपासना को जो समझता है, वह प्रधान रूप से शिवोपासना के द्वारा 'मृत्यु' अर्थात् प्रतिकूल वेदनीय दुःखादिकारणस्वरूप मल का अतिक्रमण कर 'असम्भूति' अर्थात् विमर्शशक्ति की उपासंना के द्वारा शक्तिविकासरूप अमृतत्व प्राप्त करता है। 'आगम' के अनुसार

शिवोपासनेनेत्यर्थः। मृत्युं प्रतिकूलवेदनीयदुःखादिकारणं मलं तीर्त्वा अतिक्रम्य, असम्भूत्या लिङ्गे प्राधान्यतः शक्त्युपासनया अमृतं शक्तिविकासरूपम् अश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः।

यद्वा असम्भूतिं च पूर्वोक्तप्रकारेण सूक्ष्मशक्तिविशिष्टनिर्गुणशिवोपासनं च। विनाशं च, स्थूलशक्तिविशिष्टसगुणशिवोपासनं च, तदुभयं निर्गुणसगुणोपासनाद्वयं सह एकपुरुषकर्तृकं य उपासको वेद मुक्त्यसाधारणकारणत्वेन जानाति, ज्ञात्वाऽऽचरति, स उपासको विनाशेन स्थूलशक्तिविशिष्टशिवोपासनेन मृत्युं मरणादिकारणं कार्मादिमलं तीर्त्वा अतिक्रम्य, असम्भूत्या सूक्ष्मशक्तिविशिष्टनिर्गुणशिवोपासनया, अमृतम् अमृतत्वम्, अश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः। उक्तं च सगुणनिर्गुणोपासना-द्वयस्यापि मुक्तिफलकत्वं श्वेताश्वतरोपनिषदि — "हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति" इति, "भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्।।" इति च। अत्र प्रथमवाक्येन प्राणलिङ्गं निर्दिष्टम्। 'भावग्राह्यमि'त्यनेन तु भावलिङ्गं निष्कलं निर्दिष्टम्। एतल्लिङ्गद्वयोपासनाभ्यां मुक्तेरपि कण्ठरवेणैवोक्तत्वाद् मनोग्राह्यस्य प्राणलिङ्गत्वे, 'तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमि'ति श्रुतिवाक्यं प्रमाणम्। उक्तं चानुभवसूत्रेऽपि — 'निष्कलं भावलिङ्गं स्याद् भावग्राह्यं परात्परम्' इति, 'प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं भवेत् सकलनिष्कलम्' इति च।।१४।।

पराशक्ति (विमर्शशक्ति) बिन्दुरूपिणी है और परशिव नादरूप। अतः शक्ति-शिव उभयस्वरूप बिन्दु-नादमय महालिङ्ग का स्वरूप है। उसकी उपासना मुक्तिदायिनी है।

अथवा जो योगी 'असम्भूति' अर्थात् सूक्ष्म शक्तिविशिष्ट निर्गुण शिव की उपासना और 'विनाश' अर्थात् स्थूल शक्तिविशिष्ट सगुण शिव की उपासना, दोनों को सम्मिलित रूप से समझकर करता है, वह सगुणोपासना से मरणादिकारणस्वरूप कार्मादिमल (मृत्यु) को पार कर निर्गुणोपासना से अमृतस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। उभयोपासना ही मुक्ति का असाधारण कारण है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में सगुण-निर्गुण उपासनायुगल की मुक्तिफलप्रदायकता समझाते हुए प्राणलिङ्ग और भावलिङ्ग दोनों की उपासना का उपदेश है। परात्पर भावग्राह्य परमशिव को 'अनुभवसूत्र' में निष्कल 'भावलिङ्ग' कहा गया है और मनोग्राह्य परमशिवतत्त्व को सकल-निष्कल 'प्राणलिङ्ग' ।।१४।।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।" इति श्रुतेः शिवलिङ्गधारणमन्तरा शिवस्य प्रवचनाद्यलभ्यत्वात् तद्धारणप्रतिबन्धकशक्तिसङ्कोचाख्यात्यात्मकावरण-नाशासमर्थः सन् स्वाभाविकानन्तशक्तिविशिष्टपशुपाशनियामकसकलनिष्कलस्थूल-सूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चप्रकाशकसत्यज्ञानानन्तकल्याणगुणविभवाश्रयभक्तिचिन्तामणिमेव शिवं तदावरणापसरणाय प्रार्थयते —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

हिरण्मयेनेति। हिरण्मयमिव हिरण्मयं तेजोरूपम्, तेन पात्रेण पात्रसमेन कामाद्याश्रयेण, अख्यात्यात्मकावरण-स्वभावाज्ञानशक्तिविशिष्ट-पश्चिमचक्रेण, 'हिरण्याय नमः' इति श्रुतेः। सिद्धान्तागमे हिरण्यशब्दस्य अज्ञानशक्तिविशिष्ट-पश्चिमचक्रपरत्वेनास्या उपबृंहितत्वात्, सत्यस्य सोमस्य परशिवस्य, "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमो नमः।।" इति श्रुतेः (तै० आ० १०.१२.१)। 'मुखमि'ति शरीरोपलक्षणम्। भक्तोद्धारणार्थं लीलाधृतभावलिङ्गरूपं निष्कलशरीरम्, 'हिरण्यलिङ्गाय नमः' इति श्रुतेः। "हिरण्मये परे क्रोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः।।" इति च श्रुतेः, अपिहितम् आवृतं तद् आवरणस्वभावशक्तिसङ्कोचाख्यात्यात्मकम्, हे पूषन्! हे स्वभक्तपोषक शिव! त्वम् अपावृणु अपसारय, तत्सङ्कोचदशां विगमय्य विकासं कुर्वित्यर्थः। कस्यावरणनाशं किमर्थं वा तत्कुर्यादित्यत्राह — 'सत्यधर्माये'ति। सत्यस्य शिवलिङ्गस्येष्टरूपस्य धर्मो धारणं यस्य सोऽहं तस्मै

इस मंत्र में भक्तिचिन्तामणिस्वरूप शिव से ही शक्तिसंकोचस्वरूप आवरण-भङ्ग की प्रार्थना की गयी है —

'हिरण्याय नमः' इस महानारायणोपनिषद् मंत्र के अनुसार अख्यातिस्वरूप अज्ञानशक्तिविशिष्ट पश्चिम चक्र के 'हिरण्यमय' (तेजोमय) आवरण से सत्यस्वरूप परशिव का भक्तों के उद्धार के लिए अवतीर्ण लीला-शरीर 'हिरण्यलिङ्ग' आच्छादित रहता है। हे पूषन्! अपने भक्तों के पोषणकारी परमशिव! उसे दूर करो। आवरण भङ्ग करो, शक्तिसंकोच को हटाओ और उसे विकसित करो, जिससे सत्यस्वरूप शिवलिङ्ग को धारण करनेवाली मेरी दृष्टि विकसित हो और मैं परमशिव को अल्पज्ञ आदि न

इति, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सत्यधर्मस्य शिवलिङ्गधारिणो मम दृष्टये सर्वज्ञत्वादिषडङ्गाय स्वशक्तिसङ्कोचप्रयुक्तकिञ्चिज्ज्ञत्वादिकं निरस्य, तद्विकासदशोचितसर्वज्ञत्वनित्यतृप्तत्वानादिबोधत्वस्वतन्त्रत्वाऽलुप्तशक्तित्वाऽनन्तशक्तित्वरूपाय एतद्धर्मलाभायेत्यर्थः ।।१५।।

हृत्पुण्डरीकाभ्यन्तरस्थकल्याणतमप्राणलिङ्गं दिदृक्षुः सन् गुरूपदिष्टतद्दर्शनोपायानुष्ठाने कृतप्रयत्नोऽपि ज्योतिर्लिङ्गदर्शनाभावाद् उपायानुष्ठानमपि सर्वशक्तशिवप्रसादमन्तरा न भवतीति मत्वा तत्तदिन्द्रियद्वारेण प्रसरच्चित्तरश्मीन् शक्तीन् सङ्कुचितान् कुर्विति प्रार्थयते —

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो रूपं यत् ते कल्याणतमं
तत् ते पश्यामि योऽसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।१६।।

पूषन्निति। पुष्णातीति पूषा, तत्सम्बुद्धौ हे पूषन्! सर्वभक्तपोषक! एकश्चासौ ऋषिश्च एकर्षिः, तत्सम्बुद्धौ हे एकर्षे! मुख्यचैतन्यशक्तिविशिष्ट! यम! यमयति सर्वमिति यमः, 'योऽन्तरो यमयति' इति श्रुतेः। हे यम! सर्वप्राणिप्रेरक सूर्य! सूर्यवद्देदीप्यमान! अथवा सूरिभिर्विज्ञेयत्वात् सूर्य! 'सूरिशब्दात्तद्धितो यत्', 'यस्येति चे'ति इकारलोपः। हे प्राजापत्य! प्रजानां पतिः प्रजापतिश्चतुर्मुखः। तस्य प्रथमपुत्रस्य वेदोपदेष्टृत्वेन प्रिय! 'तस्मै प्रथमपुत्राये'त्यादिना तस्य वेदोपदेष्टृत्वस्य सिद्धान्तशिखामणौ प्रसिद्धत्वात्, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं तस्मै वेदांश्च प्रहिणोती'ति श्रुतेः। रश्मीन् मच्चित्तरश्मीन् तत्तदिन्द्रियद्वारेण तत्तद्विषयदेशं गच्छत-

---

समझकर सर्वज्ञ आदि छः धर्मों से परिपूर्ण परमशिव का स्वरूप समझ सकूँ और लिङ्गाङ्गसामरस्यस्वरूप मुक्ति प्राप्त कर सकूँ।।१५।।

इस मंत्र में हृदयकमल में विराजमान शिवस्वरूप प्राणलिङ्ग का साक्षात्कार करने की कामना से चित्तवृत्तियों के नियमन के लिए उसी परमशिव से प्रार्थना की गयी है। अधिकारी भक्त प्रार्थना कर रहा है —

शिव 'पूषा' अर्थात् सर्वभक्तपोषक हैं। 'एकर्षि' अर्थात् मुख्यचैतन्यशक्तिविशिष्ट हैं। 'यम' अर्थात् सर्व प्राणिनियामक है। 'सूर्य' अर्थात् सूर्य के समान देदीप्यमान अथवा 'सूरि' विद्वानों से ज्ञेय है। 'प्राजापत्य' अर्थात् ब्रह्मदेव को सर्वप्रथम वेदोपदेश देने के कारण ब्रह्मदेव जिन्हें प्रथमपुत्र के रू में अत्यन्त प्रिय हैं। इस प्रकार सर्वभक्तपोषकत्वादि-

श्चित्तशक्तिरूपान् रश्मीन्, व्यूह विगमय, स्वकारणाभिमुखान् कुर्वित्यर्थः। किञ्च, तान् समूह एकीकुरु। उक्तं च शक्तिसङ्कोचस्य स्वरूपसाक्षात्कारार्जकमध्यविकासोपायत्वं शक्तिसूत्रे — "विकल्पक्षयशक्तिसङ्कोचविकासवाहच्छेदाद्यनन्तकोटिनिभालनादय इहोपायाः" इति। यत् ते तेजोरूपं ज्योतिर्लिङ्गरूपं कल्याणतमं परममङ्गलमुपासकानां भुक्तिमुक्तिप्रदत्वात्। अस्ति, ते तव, तत् तत् प्राणलिङ्गं मङ्गलशरीररूपम्, 'या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी' इति श्रुतेः। पश्यामि तव प्रसादात् साक्षात्करोमि। न त्वहं मद्भिन्नतया घटादिवत् साक्षात्करोमि। किन्तु योऽसौ गुरूपदिष्टः सूर्येन्दूज्ज्वलवह्निमण्डलगतः योऽसौ पुरुषः पुरि स्थूलादिशरीरत्रये शेत इति पुरुषः, इष्टप्राणभावापरपर्यायगुरुलिङ्गजङ्गमरूपश्च सोऽहमस्मीति, सूर्यादिमण्डलगतश्च श्रीगुर्वभिव्यक्तस्थूलादिशरीरगश्चैक एवेति मत्वा सोऽहमस्मीति मत्स्वरूपं पश्यामीत्यर्थः। उक्तं च शैवशास्त्रे — "हृत्पद्मं शिवधर्मकन्दसहितं सुज्ञाननालं तथा, नित्यैश्वर्यदलाष्टकं शशिनिभं वैराग्यसत्कर्णिकम्। श्रीरुद्रेश्वरकेसराञ्चितमिदं सञ्चिन्त्य तन्मध्यमे, सूर्येन्दूज्ज्वलवह्निमण्डलगतं ध्यायेत् शिवं चिन्मयम्।।" इति ।।१६।।

गुणविशिष्ट हे परमशिव! आप मेरी उन चित्तवृत्तिरूपी लगाम को उन-उन इन्द्रियरूपी घोड़ों के द्वारा विषयों की ओर दौड़ने से रोकें तथा उन्हें एकत्रित कर स्वकारणाभिमुख करें, जिससे मैं ज्योतिर्मय, भुक्तिमुक्तिफलप्रद होने से परम कल्याणकारक परमशिव प्राणलिङ्ग का साक्षात्कार कर सकूँ घट आदि के समान अपने से भिन्न नहीं, अपितु अभिन्नरूप से साक्षात्कार कर सकूँ और यह अनुभव करूँ कि इष्ट, प्राण और भाव नाम से जाने जानेवाले गुरु, लिङ्ग और जङ्गमरूप में विद्यमान सूर्यादिमण्डल के मध्य विराजमान और श्रीगुरुकृपा से अभिव्यक्त स्थूल-सूक्ष्मकारणशरीरगत जीवरूप में विद्यमान परमशिव एक ही है। अतः परमशिव मैं ही हूँ। शैवशास्त्र में उस चिन्मय शिवतत्त्व का हृदय-कमल के रूप में ध्यान वर्णित है, जिसका कन्द षडङ्गसहित माहेश्वरधर्म है, कमलनाल शैवज्ञान है, नित्यैश्वर्य आदि अष्टदल हैं, चन्द्र के समान धवल कान्ति है और वैराग्य कर्णिका है। हृदयकमलस्वरूप उस चिन्मय परमशिव का ध्यान 'सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और तेजस्वी अग्निमण्डल के मध्य' करना चाहिए। गुरु के उपदेश से ही मण्डलत्रय में विराजमान (शरीरत्रय में अवस्थित) पुरुष का ध्यान किया जा सकता है और उससे अभेद बुद्धि स्थापित कर ईश्वर-जीवैक्यभाव को हृदयंगम करते हुए परमशिव का साक्षात्कार किया जा सकता है। परमशिव की चरम अनुकम्पा से ही यह सम्भव है।।१६।।

अथेदानीं लिङ्गाङ्गिनः शिवयोगिनोऽभ्यासक्रमं निरूपयति —

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो ! स्मर कृतं स्मर क्रतो ! स्मर कृतं स्मर ।।१७।।

वायुरित्यादि। 'वायुरि'ति पदं पञ्चभूतोपलक्षणार्थम्। अनिलममृतं सूत्रात्मकं सर्वान्तर्यामि शिवलिङ्गं शिवलिङ्गार्पितं भूयात्। चतुर्थ्यर्थे द्वितीया, 'तत्सूत्रेण वायुना हि गौतम' इति श्रुतेः, 'लिङ्गं परं हृद्गगनं प्राणानिलोऽयं शिवसूत्रमुच्यते' इत्यनुभवसूत्रोक्तेश्च। अयमत्राशयः — पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मकपञ्चभूतानि न मदीयानि, किन्तु तत्तदधिष्ठिताचार-गुरु-शिव-चर-प्रसाद-लिङ्गायत्तानीति आचारादिलिङ्गे पृथिव्याद्यर्पणबुद्धिदार्ढ्यं कुर्यात्। उक्तं च अनुभवसूत्रे — "आचारायार्पिता पृथ्वी गुरोरापः समर्पिताः। शिवाय चार्पितं तेजश्चराय मरुदर्पितः। प्रसादायार्पितं व्योम जीवात्मा महतेऽर्पितः।।" इति। इत्थं विशकलितरूपेण भूतार्पणबुद्धिमुपदिश्य तत्समष्ट्यात्मकस्थूलादिशरीरार्पणमपि कुर्यादित्याह — 'अथेदमि'त्यादिना।

अथ अनन्तरम् इदं चक्षुरादिग्राह्यं शरीरं स्थूल-सूक्ष्मादिशरीरं हवीरूपं यद् वर्तते तद् भस्मान्तं शिवयोगिनः परस्मिन् चिदग्नौ हूयमानं सद् भस्मान्तमिव भूयात्। भस्मेवान्तं परिणामो यस्य तत् । काष्ठादिकमग्न्यर्पितं यथा काष्ठत्वादिना

'वायु' पञ्चमहाभूतों का प्रतीक है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों के अधिष्ठाता क्रमशः आचारलिङ्ग, गुरुलिङ्ग, शिवलिङ्ग, चरलिङ्ग और प्रसादलिङ्ग हैं। पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत इन्हींके अधीन हैं, जीव के नहीं। अतः शिवयोगी कामना करता है कि पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत सूत्रात्मक सर्वान्तर्यामी शिवलिङ्ग को समर्पित कर अमरत्व प्राप्त करें — 'वायुरनिलममृतम्'। 'अनुभवसूत्र' के अनुसार जीव को चाहिए कि वह पृथ्वी के अधिष्ठाता आचारलिङ्ग को पृथ्वीतत्त्व समर्पित करे। उसी प्रकार गुरुलिङ्ग को जलतत्त्व, शिवलिङ्ग को तैजसतत्त्व, चरलिङ्ग को वायुतत्त्व और प्रसादलिङ्ग को आकाशतत्त्व समर्पित करे। इस प्रकार भगवती श्रुति पृथक्-पृथक् रूप से पञ्चमहाभूतों की अर्पणबुद्धि का उपदेश देते हुए समष्टिरूप में स्थूल-शरीरार्पणबुद्धि का भी उपदेश दे रही है — 'अथेदं भस्मान्तं शरीरम्।'

अनन्तर इस दृश्यमान स्थूल शरीर को ज्ञानमय अग्नि में हवि के रूप में समर्पणबुद्धि रखते हुए भस्मवत् समझें। जिस प्रकार लकड़ी आदि इंधन को अग्नि में समर्पित किया जाय, तो वह मूलरूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, राख का ढेर बन जाता है। अथवा जिस प्रकार कपूर जलाने पर वह उस रूप में नहीं रहता, उसी प्रकार शरीरत्रय का लिङ्गत्रय में समर्पण करने पर वह उस रूप में नहीं रहता। विश्वरूप जीवात्मा अपने स्थूल शरीर

पूर्वरूपेण चाक्षुषाद्यगोचरं भवति, यथा च शिखिकर्पूरयोगानन्तरं शिखावदग्न्यर्पितकर्पूरस्य भस्मान्तत्वं कर्पूरत्वेन प्रतीत्यविषयत्वम्, तथा शरीरत्रयस्येष्टादिलिङ्गयोगानन्तरं तत्तल्लिङ्गाग्नौ शरीरत्रयार्पणप्रशमितशरीरप्रमातृत्वबुद्धिमभ्यसेदित्यर्थः। एतच्च 'शरीरं हविरि'ति सूत्रेण स्पष्टमुपदिष्टम्। उक्तं च विज्ञानभैरवेऽपि — "महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्। हूयते मनसा साकं स होमः स्रुक् च चेतना।।" इति। गीतं च कृष्णेनापि —"सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।" इति। उक्तं च रेणुकभगवत्पादाचार्यैः — "आत्मज्योतिषि सर्वेषां विषयाणां समर्पणम्। अन्तर्मुखेन भावेन होमकर्मेति गीयते।।" इति। ओमिति ब्रह्मवाचम् — 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम्' (म० ना० उ० १.८) इति श्रुतेः। स्वरूपतस्तद्वाच्यक्रतो क्रतुर्यज्ञः, तत्कर्तृत्वाद् जीवोऽपि क्रतुरिति लक्ष्यते। यद्वा 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्' इत्यत्राऽक्रतुशब्दस्य क्लेशकर्माद्यपरामृष्टार्थवाचकत्वात्, तस्य पराभिमतत्वात्, क्रतुशब्दस्य तत्परामृष्टार्थजीववाचकत्वात्, हे जीव मुमुक्षो! कृतं मोक्षार्थमनुष्ठितं योगाभ्यासादिकं वैदिकं कर्म ईश्वरार्पितमेव स्मर भावय, "आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः। तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति सतत्त्वतोऽन्यः।।" इति श्रुतेः, "शिवे निवेश्य सकलं कार्याकार्यविवेकतः। वर्तते यो महाभागः स सङ्गरहितो भवेत्।।" इति सिद्धान्तशिखामण्युक्तेश्च (२६.७४)।

को इष्टलिङ्ग में समर्पित करता है, तो वह इष्टलिङ्गरूप हो जाता है। जब तैजसरूप जीवात्मा अपने सूक्ष्मशरीर को प्राणलिङ्ग में विलीन करता है, तो प्राणलिङ्गाकार हो जाता है। उसी प्रकार प्राज्ञरूप जीवात्मा अपने कारणशरीर को भावलिङ्ग में समर्पित करता है, तो वह भावलिङ्गाकार हो जाता है। इस प्रकार जीवात्मा के तीनों शरीर उन-उन लिङ्गों की ज्ञानमय अग्नि में विलीन होकर भस्मवत् हो जाते हैं। इस अर्पणबुद्धि से जीवात्मा की शरीर को प्रमाता समझने की बुद्धि शान्त होती है। शिवयोगी को इसीका अभ्यास करना चाहिए। 'शरीरं हविः' इस सूत्र में स्पष्टरूप से शरीर को चिदग्नि का हविर्द्रव्य कहा गया है। 'विज्ञानभैरव' के अनुसार महाशून्यस्वरूप चिदग्नि में पञ्चमहाभूत, इन्द्रियों के विषय आदि का मानसिक समर्पण ही होमकर्म (अन्तर्याग) है, जिसमें चैतन्यशक्ति स्रुवा का कार्य करती है। रेणुकभगवत्पादाचार्य भी यही कहते हैं। ॐ (ओम्) यह मंत्रोच्चारण प्रणवाकार सदाशिव-ब्रह्म का स्मारक है। 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माऽधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिव ॐ (ओम्)' यह श्रुतिवचन 'ओम्' का प्रतिपादन ब्रह्मवाणी ही करती है।

किञ्च, हे क्रतो! जीवकृतं गुरुलिङ्गजङ्गमतृप्त्यर्थमनुष्ठितं व्यावहारिकमपि कर्म यद् वर्तते, तदपि शिवार्पितमेव स्मर भावय। 'स्मर स्मरे'ति पुनर्वचनमादरार्थम्। इत्थं प्रत्यहं परस्मिन् चिदग्नौ अन्तर्मुखेन भावेन भूतभौतिकादिसर्वविषयाणां समर्पणरूपलयचिन्तनदार्ढ्ये भस्मान्ततूलादेस्तत्त्वेनाग्रहणमतद्रूपेण ग्रहणमिव प्रसादत्वेनैव ग्रहणस्थैर्ये मुक्तो भवतीति मन्त्रतात्पर्यम्। 'भस्मान्तं शरीरमि'त्यादिकं तथैव व्याख्येयम्, अन्यथा 'दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा' इत्यागमादि-विरोधः स्यात्, स्याच्च दहनस्वीकारे गौरवमपि। दग्धस्याऽप्यस्थ्यादीनां भूखननजल-समर्पणापेक्षया खननस्यैव लाघवात्। पार्थिवस्य शरीरस्य पृथिव्यामर्पणस्य युक्तत्वाच्च 'तत्त्वं तत्त्वेन योजयेदि'त्युक्तत्वाच्च ।।१७।।

क्रतो! (अपने शरीर को चिदग्नि में समर्पणबुद्धि रखने के कारण) यज्ञ (अन्तर्याग) के कर्ता हे मुमुक्षु जीव! मोक्ष की कामना से अनुष्ठित योगाभ्यास आदि समस्त वैदिक कर्मों का ईश्वरार्पणबुद्धि से ही स्मरण करो। उसी प्रकार त्रिविध लिङ्ग की तृप्ति के लिए विहित व्यावहारिक कर्मों का भी शिवार्पणबुद्धि से वारंवार स्मरण करो। इस प्रकार विषयों को ईश्वरार्पणबुद्धि से चिदग्नि में समर्पणबुद्धि से विलीन करने पर, जिस प्रकार कपास को आग में डालने पर उसे उस रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार विषयों का विलय होने पर उनका विषयों के रूप में नहीं, अपितु प्रसादरूप में ही ग्रहण किया जा सकता है, यही 'अन्तर्याग' का रहस्य है, इसीसे मुक्ति मिलती है, यही मन्त्र का तात्पर्य है। 'भस्मान्तं शरीरम्' इस चरण की व्याख्या इसी प्रकार करनी चाहिए। क्योंकि वीरशैव-सम्प्रदाय में भौतिक शरीर को अग्नि में समर्पित नहीं किया जाता, अपितु उसे भू-समाधि दी जाती है। क्योंकि 'दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा' इस आगम-वचन के अनुसार जिस प्रकार पके हुए को फिर से पकाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार जलकर राख हुए शरीर को फिर से जलाया नहीं जा सकता। अर्थात् जो शरीर चिदग्नि में जलकर राख-सा हो जाता है, उसे भू-समाधि देना ही उचित है, अग्नि-समर्पण नहीं। अन्यथा इस आगमोक्ति की संगति बैठ नहीं सकती। साथ ही किसी प्रकार भौतिक शरीर का दहन स्वीकार करने पर गौरवदोष स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि भौतिक शरीर पूरी तरह भस्म नहीं होता, उसकी अस्थियाँ बची रहती हैं और उन्हें भू-समाधि अथवा जल-समाधि देनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा भौतिक शरीर को भू-समाधि देने में ही लाघव है। साथ ही पार्थिव शरीर पृथ्वी को समर्पित करना ही युक्तियुक्त है। 'तत्त्वं तत्त्वेन योजयेत्' इस वचन के अनुसार उस तत्त्व को उसी तत्त्व में मिलाना चाहिए। इस दृष्टि से पार्थिव शरीर को पृथ्वी में विलीन करना ही समुचित है ।।१७।।

मोक्षोपायानुष्ठानसामर्थ्यप्रार्थनानन्तरमग्न्यवच्छिन्नशिवं भगवन्तं मोक्षं प्रार्थयते—

अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव! वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।१८।।

अग्ने इत्यादि। हे देव! क्रीडादिगुणविशिष्ट! अग्ने! अग्न्यवच्छिन्न शिव! राये मोक्षलक्षणाय, अस्मान् त्वत्प्रसादासक्तान्, सुपथा गमनागमनवर्जितेन मार्गेण दक्षिणायनव्यावृत्तेन, नय प्रापय। कीदृशस्त्वम्? विश्वानि सर्वाणि वयुनानि कर्माणि विद्वान् जानन् त्वं जुहुराणं 'ह्वृच्छा कौटिल्ये' इति धातोः कुटिलमित्यर्थः। एनः अशुभकार्ममलं दुःखाद्युत्पादकम्, अस्मत् अस्मत्तः, युयोधि विनाशय । ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतरां नम उक्तिं विधेम कुर्याम। यद्वा अग्ने! तेजस्तत्त्वात्मकशक्त्यवच्छिन्न-शिवलिङ्ग ! 'ज्वलाय नमो ज्वललिङ्गाय नमः' इति श्रुतेः। 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्' इत्यारभ्य 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः' इत्यादिश्रुतेः। सुपथा सुषुम्नामार्गेण, राये मुक्तिलक्षणाय । उक्तं च तन्मार्गस्य मोक्षप्रापकत्वम् — "उद्घाटयेत् कवाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्। कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।" इति। 'ऊर्ध्वाय नम ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः' इत्युक्तचिच्छक्त्यवच्छिन्नस्य परशिवतत्त्वस्य सामरस्याय, तादर्थ्ये चतुर्थी; तदर्थं नय प्रापय।

एतदुक्तं भवति — आधारस्वाधिष्ठानगताचारलिङ्गं गुरुलिङ्गं चोपास्य मणिपूरक-चक्रप्रवेशानन्तरं तत्रस्थस्य शिवलिङ्गस्य तेजस्तत्त्वात्मकेच्छाशक्तिविशिष्टत्वात् तच्छक्तिविशिष्टशिवलिङ्गस्य शिवयोगिन इव भक्तकल्पद्रुमरूपत्वात् तल्लिङ्ग-

---

हे चिदग्निस्वरूप शिव! आप विविध क्रीड़ा (लीला) समर्थ 'देव' हैं। हम हमारे (जीव के) सभी वैदिक और व्यावहारिक कर्मों को जानते हैं। हमें मुक्ति-धन चाहिए, इसलिए आप हमें गमनागमनवर्जित दक्षिणायन से पृथक् सन्मार्ग से ले जायँ। हमारे अशिव दुःखादि उत्पादक कार्ममलों को हमसे पृथक् करें। वारंवार आपको मेरी प्रणामाञ्जलि। अथवा — 'ज्वलाय नमः ज्वललिङ्गाय नमः' इस श्रुतिवचनानुसार हे तेजस्तत्त्वात्मक शक्त्यवच्छिन्न लिङ्गस्वरूप शिव! आप मुझे (जीव को) मुक्ति-धन प्रदान करने के लिए सुषुम्ना-मार्ग से पहुँचायें।

शिवयोगी सर्वप्रथम आधारचक्र और स्वाधिष्ठानचक्र में विद्यमान गुरुलिङ्ग और आचारलिङ्ग की उपासना करता है और उसके बाद मणिपूरकचक्र में प्रवेश करता है। वहाँ विराजमान शिवलिङ्ग तेजस्तत्त्वात्मक इच्छाशक्तिविशिष्ट है और शिवयोगी भक्त के लिए कल्पवृक्षस्वरूप है। अतः शिवयोगी कहता है कि हे तेजस्तत्त्वात्मक इच्छा-

मुद्दिश्याऽनाहतविशुद्धाऽऽज्ञा-सहस्रार-शिखा-पश्चिमचक्रान्तस्थिततत्तल्लिङ्गसामरस्यं प्रापय्य 'ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः' इत्यादिश्रुतिसिद्धसर्वतत्त्वोर्ध्वगतचिच्छक्त्यवच्छिन्न-शिवतत्त्वसामरस्यं प्रापयेति प्रार्थयेदित्यलमत्र शिवयोगरहस्योद्घाटनेन, शिवयोग-प्रदीपिकादौ तद्योगस्य विस्तरेणोक्तत्वात्। इतः परं ऊर्ध्वलिङ्गप्रवेशप्रतिरोधकं मम किञ्चित् पापशेषमस्ति चेत्, सर्वप्राणिकर्मज्ञस्त्वमत एव, मत्पापशेषमपि मत्तः पृथक् कुरु इत्याह — 'विश्वानी'ति। विश्वानि समस्तानि वयुनानि प्राणिनां शुभाशुभकर्माणि, विद्वान् जानन्, अत एव त्वम्, अस्मज्जुहुराणं मम कुटिलं वचनात्मकमूर्ध्वलिङ्गप्रवेशप्रतिरोधकमित्यर्थः। एनः दुरदृष्टशेषं युयोधि वियोजय विनाशयेत्यर्थः। ते तव नम उक्तिं भूयिष्ठां नमस्कारपरम्परां विधेम कुर्याम, बहुवित्तव्ययाऽऽयाससाध्यनमोऽन्यत् त्वत्सेवायामसमर्थाः स्मः। तस्माद् भक्त-वत्सलस्त्वं वत्सवत्सलतया गौरिव मन्मलपङ्कान् व्यपोह्य रक्षेत्यर्थः ।।१८।।

।। इति श्रीमदुज्जयिनीसद्धर्मसिंहासनाधीश्वर-जगद्गुरु-चरपट्टाध्यक्ष-सिद्धलिङ्ग-राजदेशिकेन्द्रमहास्वामिनां संस्थानाऽऽस्थानपण्डितेन महीशूरश्रीमन्महाराजास्थान-विद्वज्जनप्रदत्तप्रशस्तियुतेन धर्मरत्नपदवीभूषितेन धारवाडजिल्ला-हुब्बल्ली-प्रदेशान्तर्गत-उमचिगिपुरमध्यविद्योतमानवरिष्ठमठाधिपश्रीमदय्यप्पार्यपुत्रेण शङ्कर-शास्त्रिणा विदुषा विरचितेयम् ईशावास्योपनिषच्छाङ्करी व्याख्या समाप्ता।।

शक्तिविशिष्ट भक्तकल्पद्रुम लिङ्गस्वरूप शिव! आप सुषुम्ना-मार्ग से क्रमशः विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र, सहस्रारचक्र, शिखाचक्र और पश्चिमचक्र में विद्यमान उन-उन लिङ्गों से सामरस्य कराते हुए 'ऊर्ध्वलिङ्गाय नमः' इस श्रुति में प्रतिपादित सर्व तत्त्वों से ऊपर विराजमान चिच्छक्तिविशिष्ट शिवतत्त्व से सामरस्य स्थापित कराओ, जिससे मैं मुक्ति-धन प्राप्त कर सकूँ। आप उन कुटिल वचनों को भी मुझसे पृथक् करें, जो ऊर्ध्वलिङ्ग-प्रवेश में प्रतिबन्धक हैं। आप प्राणियों के समस्त शुभाशुभ कर्मों को जानते हैं। जिस प्रकार गौ वत्स की रक्षा वात्सल्यभाव से करती है, उसी प्रकार आप मेरे पाप-कर्दम को मुझसे दूर कर मेरी रक्षा करें। आपकी सेवा प्रचुर धन एवं परिश्रमसाध्य है। मेरे पास आपको समर्पित करने के लिए नमस्कार-परम्परा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। मैं आपको वही समर्पित करता हूँ। आपको कोटि-कोटिवार, अनन्त-अनन्तवार वन्दन ।।१८।।

इस प्रकार उज्जयिनी सद्धर्मसिंहासन (सद्धर्मपीठ) के पीठाधीश्वर जगद्गुरु चरपट्टाध्यक्ष श्री सिद्धलिङ्गराज देशिकेन्द्र महास्वामीजी के द्वारा संचालित संस्थान के

उमचिगिपुरवासी शङ्करः शान्तियुक्तः
परशिवपदपद्मे चाय्यपार्यस्य पुत्रः ।
स्तुतगुरुरहमेनां शाङ्करीरत्नमालां
वरगुणपरयुक्तिं निक्षिपाम्यद्य भक्त्या ।।

ऋतुलोकवसुब्रह्ममितेऽब्दे शालिवाहने ।
वैशाखमासि पञ्चम्यां व्याख्येयं प्राप पूर्णताम् ।।

(शालिवाहनशक १८३६, ख्रि० स० १९१४)

।। इति शिवम् ।।

आस्थान (सभा)-पण्डित, महीशूर (मैसूर) महाराज की राजसभा के विद्वज्जनों द्वारा प्रदत्त प्रशस्ति से अलंकृत 'धर्मरत्न' पदवी से विभूषित धारवाड जिला के हुब्बल्ली प्रदेश के अंतर्गत उमचिगिपुर के मध्य में वर्तमान वरिष्ठ मठाधीश्वर श्रीमान् अय्यप्पाचार्य के पुत्र विद्वान् श्रीशङ्करशास्त्री द्वारा विरचित ईशावास्योपनिषद् की 'शाङ्करी' व्याख्या परिपूर्ण हुई।

उमचिगिपुरवासी अय्यप्पाचार्य का पुत्र (मैं) शङ्कर शान्तिपूर्वक गुरु की स्तुति करते हुए भक्तिपूर्वक श्रेष्ठगुणपरक युक्तियुक्त शाङ्करी रत्नमाला को परमशिव के चरणकमल में समर्पित करता हूँ ।।

ऋतु ६, लोक ३, वसु ८ और ब्रह्म १ अर्थात् 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार १८३६ शालिवाहन शकवर्ष के वैशाख मास की पञ्चमी तिथि में यह व्याख्या परिपूर्ण हुई ।।

(शालिवाहन शक १८३६, ई० सन् १९१४)

।। इति शिवम् ।।

❋ ❋ ❋

ग्रन्थग्रन्थकार-मतमतान्तरसूची



हमारे अन्य प्रकाशित ग्रन्थ

१.	लिङ्गधारणचन्द्रिका (हिन्दी भावानुवाद सहित) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० १५०.००
२.	सिद्धान्तशिखामणिः, तत्त्वप्रदीपिकाख्यसंस्कृतव्याख्यासहितः (मराठी भावानुवाद-सहितश्च) *ज० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*	रु० २५०.००
३.	ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम् (चतुःसूत्री) अप्पय्यदीक्षितकृतशिवार्कमणिदीपिका (संस्कृत-टीकासहितम्) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० १५०.००
४.	वीरशैव अष्टावरण विज्ञान (हिन्दी और मराठी) *डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*	रु० ५०.००
५.	सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा (संस्कृत) *डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*	रु० २००.००
६.	निगमागम संस्कृति (हिन्दी) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० २००.००
७.	सूक्ष्मागमः (हिन्दीभाषानुवादसहितः) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० १५०.००
८.	चन्द्रज्ञानागमः (हिन्दीभाषानुवादसहितः) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० २००.००
९.	मकुटागमः (हिन्दीभाषानुवादसहितः) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० १२५.००
१०.	कारणागमः (हिन्दीभाषानुवादसहितः) *प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय*	रु० १७५.००
११.	निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम् (संस्कृत) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदः*	रु० ३००.००
१२.	पारमेश्वरागमः (हिन्दीभाषानुवादसहितः) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० ३५०.००
१३.	ईशावास्योपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहितः) *पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग*	रु० १५०.००
१४.	केनोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहितः) *पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग*	रु० २००.००
१५.	सिद्धान्तप्रकाशिका (हिन्दीभाषानुवादसहितः) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी*	रु० १००.००
१६.	शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः (संस्कृत) *ज० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी*	रु० ३००.००

1.	Candrajñānāgama (English Translation) *Dr. Rama Ghose*	Rs. 300.00
2.	Makuṭāgama (English Translation) *Dr. Rama Ghose*	Rs. 175.00
3.	Sūkṣmāgama (English Translation) *Prof. R. C. Pandey*	Rs. 200.00

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी - २२१ ००१

✆ (0542) 321146

ईशावास्योपनिषद्

पं० जगन्नाथशास्त्रीतैलङ्गः